स्त्री–चोरोंका दाँव अंधेरेमेंही लगताहै, आपने मैं अकेली पा लीहूं। मेरा कोई अपराध नहीं आपसे हाथ जोडतीहूं जानेदो।

बीर०–मेरा अंतःकरण चुरालिया और फिर अपराधी होकर मुकरतीहो।

स्त्री–यदि मैं अपराधीहूं तो आप क्यों अपराधी बनतेहैं (रोतीहै)

बीर०–मेरे सन्मुख रोओ मत जी ?

स्त्री–हां ! यह कैसी आपत्तिहै।

"दिल जलैहै रंजसे, आँसू बहाना मनाहै। लगीहै आग घरमें, और बुझाना मना है॥" हाय ! मुझे जाने क्यों नहीं देते ! यदि मेरे देहको नहीं जाने देते तो प्राणही जाने दीजिये।

बीर०–हे प्राणवल्लभे ! क्या अपनी जानको कोई जानेदेताहै ?

स्त्री–अच्छा ! आपही यहांसे चले जाइये।

बीर०–सोभी नहीं होसकता, यहाँकी धरतीने मेरे पाँव पकडलियेहैं।

स्त्री०– शैर।

"जमींका सख्त होना आस्मांका दूर होजाना।
बुरा होताहै इन्साँके लिये मजबूर होजाना॥"

बीर०–यदि आप स्पष्ट उत्तर नहीं देतीं तो मैं यही समझूँगा कि "मौनं सम्मति लक्षणम्"।

दोहा–"प्यारी दिलकी चोटको, देखहु नैन उघार।
पैनी नैन कटार जेहि, करी कलेजे पार॥

प्रिये ! मेरा मन जो काचके समानहै, आपकी नजरसे गिरनेपर चूरचूर होजायगा। दया करो। प्यारी ! अपने हृदयकी कोमलता कमलको देकर क्यों अपना कलेजा पत्थर बना लियाहै ? क्या मैं इन कालीनागिनोंसेभी गया बीताहूं जो आपके सुन्दर कपोलोंपर कलोल करती हैं प्यारी ! "चारदिनाकी चाँदनी फेर अँधेरी रात" अवस्था सबका रूप धुला २ कर बिगाड देतीहै इतना भान न करना चाहिये। आपका यह।

शैर।

"बरस पंदरा या कि सोलाका सिन। जवानीकी रातें मुरादोंके दिन॥
आनन्द करने और चैन उडानेहीके वास्ते हैं, इस देहीसे उपकार करना चाहिये।

स्त्री–नहीं नहीं मैं ऐसा आनन्द नहीं चाहती मीन नीरमेंही राजीहैं, क्षीरमें नहीं।

बीर०–गुलाब देखनेमें लाख सुन्दरहै, परंतु जो उसमें दुर्गंध आवै तो कोई पास न रक्खै।

स्त्री–हे सजन !

दोहा–"प्रेम एक इक चित्तसों, एकहि संग समाय।
गंधीको सौदा नहीं, जन जन हाथ बिकाय॥

बीर०–तो क्या मैं इस योग्य नहींहूं ?

स्त्री–यह कौन कहताहै ? परंतु जो चीज़ आप चाहतेहैं सो मेरे पास नहीं रही। वह पराये हाथ बिकचुकी।

वीर०–(जरा क्रोधसे) अब आप जा कहाँ सकती हैं–आपको मेरा कहा मानना पडैगा। मेरे वचनका अपमान करके तुमको लज्जा नहीं आती ?

स्त्री–यदि मेरा शरीर पराधीनहै तो मन नहीं ! सती स्त्री धमकीसे नहीं डरतीं। मैं आपका अपमान नहीं करती वरन् जो प्रतिष्ठा आप मुझ तुच्छ जीवको प्रदान करना चाहतेहैं। उसके योग्य अपनेको नहीं समझती।

बीर०–यह क्यों ?

स्त्री–(स्वयम्) धर्मकी रक्षाके वास्ते झूठ बोलनाभी पाप नहींहै (प्रगट) मैं एक नीच कुलमें उत्पन्न हुईहूं।

बीर०–शरदके चंद्रमामें कोई दोष नहीं होता, विद्या और स्त्री रत्न जहाँ मिलै वहां सेही ग्रहण करने योग्यहैं । यह मैं नहीं मान सकता 'कर्म न छिपै विभूति रमाये" "लाल गुदडीमें नहीं छिपते"–मैं तो सब विवाहकी तैयारी करचुकाहूं। और आपके अभी मनमेंही नहीं आती।

स्त्री–(आश्चर्यसे) विवाह ! विवाह कैसा ! विवाह तो मेरा होचुका जी ! क्या कुल-कन्या द्वितीयबार परणाई जातीहैं ?

बीर०–कहाँ और किसके साथ ?

स्त्री–यह मैं नहीं बतलाऊंगी।

बीर०–तो क्या आपको पतिने तिरस्कार करदियाहै ?

स्त्री०–कुछभी हो आपको इन बातोंसे क्या प्रयोजन ?

बीर०–मैंभी कुछभी हो अब तो आपसे विवाह करूंहीगा।

स्त्री–क्या आपको मंत्रीपुत्र होकर अपने अपयशकाभी ध्यान नहीं। लोग क्या कहैंगे कि न जाने किस ज्ञातिकी स्त्री जंगलसे ले आयाहै और उसके साथ विवाह करताहै ?

बीर०–इसकी कुछ चिन्ता नहीं "बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा" बात यही है कि, मैं आपका अपमान नहीं करना चाहता सुगंधित कुसुम शिर चढानेके योग्य होताहै न वह अनादरके साथ पैरोंमें कुचलनेके लिये–(कछ आगे बढके) आओ प्रिये !

स्त्री-(पीछे हटतीहुई) देखो ! स्पर्श न करो मैं अपवित्र हूं ।

बीर०-क्या चंद्रमा जो अमृतका भाजनहै कभी अपवित्र होसकताहै ? सुन्दरियोंका मुख सदैव पवित्रहै । (स्त्रीके पैर पकडना चाहताहै)

स्त्री-(और हटके) क्या आप पैर छूके मेरा नियमभंग करैंगे ?

बीर०-प्रिये ! प्रेम पंथमें नियम नहीं होता ।

स्त्री-(क्रोधसे)रे धूर्त ! स्त्रीलम्पट ! क्यों मेरे पीछे पडाहै मानता नहीं ।

बीर०-क्या अपने इन वचनोंसे आप यह समझतीहैं कि, मेरा क्रोध भडके और यहांसे चलाजाऊं ऐसा नहीं हो सकता । मैं सब कुछ करसकताहूं परंतु अबलाके कोमल-हियेको दुखाना नहीं जानता ।

स्त्री-तो अब आप क्या कररहेहैं ?

बीर०-यही कि,

चौपाई ।

विनय भावसों प्रियहि मनावौं । रतीकालमें अतिसुख पावौं ॥

स्त्री--कहीं गीदडके बच्चे सिंहनीको धमका सकते हैं ?

बीर०--यदि फूलके कांटोंसे भौंरे डरा करैं तो वे उपासेही मरजाँय--हा शोक ! जिस विधाताने स्त्रियोंके अंगको फूलकी पखुरियोंसे भी कोमल बनाया उसने उनका हिया बनानेके समय पत्थरसे क्यों काम लिया ! आगे बढता हुआ आप तो रोतीहो ?

स्त्री-- (और हटके)और सब कामोंमें मैं विवशहूं परंतु क्या रोनेसेभी रोक सकतेहो? (क्रोधसे) रे दुष्ट नराधम ! तू न मानेगा-बडा धूर्तहै ।

बीर०-"नारीजने धूर्तता" स्त्रीसे धूर्तता करकेभी काम निकालना चाहिये-यदि मैं न मानूं तो आप क्या करैंगी ?

स्त्री-आत्मघात और क्या ?

बीर०-नहीं नहीं प्यारी नहीं-यह कोमल सुकुमार अंग यौवनकी उमंगमें भरा इसप्रकार वृथा खोनेको नहींहै ।

स्त्री-मैं जानतीहूं कि मैं एक निर्बल स्त्रीहूं । परंतु हे सज्जन ! शक्तिवान्को अपनी शक्ति, अशक्तिवानोंका दुःख हरनेकेलिये काममें लानी चाहिये नकि उनको और हीन करनेमें-

(श्लोक)

"नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥"

पापका फल शीघ्र नहीं मिलता किन्तु धीरे २ कर्ताका नाश करदेताहै । अजी भ्रमर कहीं बासी फूलका रस नहीं लेता ।

बीर०—मैं भी ऐसी नीति बहुत जानताहूं । परंतु प्रणय शास्त्रमें इनका निषेधहै ।

स्त्री—कुछभी हो कहीं सूरजकी किरणोंसे कुई नहीं फूलती वह चन्द्रमाहीकी आकांक्षा रखतीहै ।

बीर०—बस जी ! अब बहुतहुई ! विशेष मैं सहन नहीं करसकता । (झपटकर चाहता था कि स्त्रीको पकडलें—वह कुछ और हटगई)—

स्त्री—(स्वयम्) अब ऐसे दुष्टसे पीछा नहीं छूटता (कुछ शोचकर) आप इतनी उतावल क्यों करतेहैं ? मैं तो आपके प्रेमकी परीक्षा लेतीथी आपके अधीनहूं चाहे सो कीजिये कहाँ जा सकतीहूं ।

बीर०—(रुककर) यहीतो मैं कहताथा प्रिये आप अभी नवयौवनाहैं सृष्टिका एक सुन्दर फूल जंगलमें खिलकर बिना किसीके सुँघेही कुम्हलाजाय यह कैसी शोककी बात है ! (स्वयम्) अवला अपने हृदयपटोंको कबतक बंद रखसकतीहै ? (प्रगट) फिर शुभकार्यमें विलम्ब क्यों ?

स्त्री—पहिले एक प्रार्थना आपको स्वीकार करनी पडेगी । यदि अपराध क्षमा होतो निवेदन करूं—

बीर०—प्रिये ? मैं अपना सर्वस्व आपको अर्पण करचुका । यदि प्राणभी माँगें तो निकालके हवाले करूंगा ।

स्त्री०—नहीं जी ! ऐसे वचनमें आपके मुखपंकजसे सुननेको असमर्थहूं । मैं केवल बही विनयपूर्वक निवेदन करतीहूं कि, बहुत दिवससे शोकके कारण मैंने अपना शृंगार नहीं किया और तन भी मैलासा होरहाहै आपके स्पर्श योग्य नहीं और ऐसी अवस्थामें पूर्णानंदकी प्राप्तिभी नहीं होती । यदि आप कुछ अवकाश दें तो स्नाना-दिक कर स्वच्छ होलूं ।

बीर०—बस प्रिये ! यही प्रार्थना आप करतीथी ?

स्त्री—हाँ यही जी ! जिस समय मैं शृंगार बनाके सेजपर पगधरूंगी आप पहिचानभी न सकैंगे और इस समयमें शोकका वेगभी शनैः २ कम होजायगा जिसका दूर करना आनन्दके लिये परम आवश्यकीयहै ।

बी०—प्यारी ! चंद्रमा जगमें एकहीहै एकबेर उसे देखकर कोई नहीं भूलसकता । (एक संदूककी कुंजी देकर) लो प्रिये ! हाथसे (बताके) इसमें सब सुन्दर वस्त्र अलंकार उपस्थित हैं जैसे आपको रुचैं धारण कीजिये । अब मैं कब सेवामें उपस्थित हूं ?—

स्त्री—अजी ! यों कहिये कि कब दर्शनदूं । यदि आजसे तीसरे दिवस कृपा करैं तो बडा अनुग्रहहो (स्वयम्) इन तीनदिनमें यातो यही समझजावै- या मैं ही नहीं ।

बीर०–यह तीनद्दिन तो तीनवर्षसम निकलेंगे तो विवाहका लग्न कौनसे दिवसका नियत कियाजाय ?

स्त्री–इसकी ऐसी क्या जलदीहै ? मैं आपकी होहीचुकी । एकबार पूर्ण शृंगार सहित मेरे रूपको तो देखलीजिये ।

बीर०–हा ! प्यारी ! तुमने कलेजा तो पहिलेही खींचलिया अब शृंगार करके और क्या लोगी ?

स्त्री–आपको

बीर०–यहही मनोहर शब्द मैं सुना चाहताथा, सो सुनालिया । अब जाताहूं ।

(चलागया)

स्त्री–(स्वयम्) हाय ! अब क्या करूं ? इस समय तो जैसे तैसे झूंठ बोलकर पिंड छुडाया परंतु फिर क्या? हा ! क्या मेरी इस विपदका कभी अंत नहीं होगा (भली भाँति इधर देखके) चलातो गया–वह सीढी उतरनेका शब्द–चलो बला टली । अब ऐसे जीनेसे मरजानाही भलाहै (साडीकी फाँसी बना गलेमें लगातीहै) हे नाथ ! यदि आपकी आज्ञा बिंना मुझे स्वयम् यह शरीर नहीं छोडना चाहिये परंतु क्या करूं और कुछ वश नहीं । ऐसा नहीं करती तो धर्म जाताहै आपकी चोर बनतीहूं और नर्ककी भागी होतीहूं । हे नाथ ! क्षमा करना, क्षमा करना, मेरा सब अपराध सब कहा सुना क्षमा करना, हे तात हे मात ! आज आपकी दुलारीका बोझ पृथ्वी नहीं सम्हार सकती इसलिये वह संसारसे बिदा होतीहै । आपने मुझे जन्म दिया और पालन पोषणादि करके इतनी बडी करी, मैं अधम आपकी चाकरी कुछ नहीं करसकी वरन् आपको शोकसागरमें छोड प्रस्थान करतीहूं । क्षमा करना । हे नाथ ! मेरे दुखिया माता पिताको संतोष देना । यह मेरी अंतिम प्रार्थनाहै । प्यारे ! अब बिदा होतीहूं (दोनो सिरे पकडके फाँसको खैंचना चाहती है झट एक सुन्दर युवकने आकर हाथ थामलिये)

यु०–हैं ! हैं ! यह क्या करतीहो ?

स्त्री०वही जो मुझे कर्तव्यहै ।

यु०–यह शरीर आपका नहीं तुम्हारा बिवाह कल हमारे स्वामीके साथ होनेवाला । इसप्रकार अपने प्राण देकर क्या उनको हत्यारा बनाना चाहतीहो ?

स्त्री–मुझे रोकनेवाले तुम कौनहोजी ? अभी अपनी देहकी मैं मालिकहूं ।

यु०–नहीं ऐसा नहींहै तुम्हारी देहका मालिक कोई औरहै ।

स्त्री–फिर तुम कहनेवाले कौन ?

यु०–मैं बीरसेनका एक सेवकहूं विवाहके प्रबंधके निमित्त नियत कियागयाहूं । और अच्छा प्रबंध होजानेपर मुझे यथायोग्य पारितोषिक मिलेगा ।

स्त्री–तुम मेरे इष्ट कार्यमें क्यों बाधक होतेहो !

युo–इसीलिये कि, मेरा पारितोषिक हाथसे न जातारहै (स्त्रीके हाथसे फाँस छीनली) लो अब मैं इसे अपने स्वामीको दिखाताहूं वे कहतेथे कि, मैंने उनको सब तरह राजी करलियाहै । वहां तो कुछ औरही मामलाहै । अब देखो वे आके तुम्हारी खबर लेंगे । (चलनेकी चेष्टा करता है)

स्त्री–(विह्वलसी होकर) नहीं ! नहीं ! (हाथजोड उसके पैरोंपर गिरना चाहतीहै (युवक पीछे हट गया) दया करौ ! दया करो ! (रोतीहुई) मुझ गऊको न सताओ तुम्हें जो पारितोषिक तुम्हारे स्वामीने देनेको कहा हो, उससे दुगुना मुझसे लेजाओ (हार उतारकर देतीहुई) देखो ! मैं बिनती करतीहूं मुझे मत रोकौ, वे तुम्हें इन्द्रका सिंहासन नहीं देदेंगे ।

युo–नहीं ! नहीं !! मैं ऐसा कृतघ्नी नहींहूं जो लालचमें आकर अपने स्वामीको हानि पहुँचाऊं । सेवकका यह धर्म नहीं है ।

स्त्री–(रोतीहुई) हाय ! तो क्या मेरा सर्वनाशही करौगे "जाही देखे ताप आवै । वही निगोडा ब्याहन आवै ॥" अजी इतना तो सोचें कहीं विना मन मिले देह मिल सकतेहैं--सो असम्भवहै ।

युo–यदि आप चाहैं तो केवल एक प्रकारसे बच सकतीहो ।

स्त्री--वह कैसे !

युo--निकट आओ तो बताऊं ।

स्त्री--(क्रोधसे) परेहो दुष्ट ! मैं भाड़से निकल भट्ठीमें नहीं गिरना चाहती ।

युo--और जो मैं पकडलूं तो आप क्या करैंगी !

स्त्री--वही आत्मघात।

युo--देखैं कैसे आत्मघात करतीहो (दौड़कर स्त्रीके दोनों हाथ ऊपरको पकड़ लिये और लिपटगया)

स्त्री--हाय ! (मूर्छाखाके गिरपड़ी) (युवकने अपना पुरुषवेष उतारा और एक सुन्दर स्त्री बनगई)

युoस्त्री--हा ! ऐसे कोमल हृदय पर पत्थरसी चोट नहीं सही जासकती । भयसे इसका कलेजा कैसा धड़क रहाहै (मूर्छित स्त्रीके पास बैठकर) हे रत्न ! क्यों वृथा प्राण खोतीहै । अरी ! तेरा प्यारा कहीं मिलनेकी बाट निहारता होगा । हे सजनी ! चेत करो ! चेत करो ! प्यारी ! आँखें खोलो मुखसे बोलो ।

स्त्रीरत्नकुमारी–(कुछ चेतकरके आँखे मूदेहुवे) रे दुष्ट ! क्या तू अभी नहीं गया ! और हाय ! क्या अभी मेरे प्राणभी नहीं गये ?

युo स्त्री–प्यारी सखी ! उठो २ चेत करो तुम्हारा दुःख मुझसे नहीं देखाजाता । मैं दुष्ट नहीं एक दुष्टाहूं आँखें खोलो रत्नकुमारी ! मुखसे बोलो ।

रत०–(अपना नाम सुनकर आँखें खोलदीं) हे ! शृंगारवती ! तू यहाँ कहाँ ? और कैसे आ सकी ? वह दुष्ट पापी जो अभी यहाँ था कहाँगया ?

शृं०–प्यारी ! वह दुष्ट मैं ही हूं ।

रत०–(उठकर) अरी ! (शृंगारवतीके गलेसे लिपटगई): क्या इस विपदमेंभी मुझसे हँसी करनीथी ?

शृं०–(मुसकुराके) लो दुलहन बनी बनी बैठीहो और विपदका नाम लेतीहो ।

रत०–हां ! मृत्युसे विवाह करनेको ।

शृं०–यों न कहोगी वसंतमें आनंद मनानेको ।

रत०–हे प्यारी सखी ! क्यों जलेपे नोन भुरकतीहै ।

दोहा–यह वसंत बस अंत है, पिया रहे बस अंत ।
बस नाहीं परवस पडी, प्रीतम निकट वसंत ॥

अरी ! क्या तैंने जानलिया कि मैं....... (कंठरुक गया आँसू टपकने लगे)–

शृं०–(आँसू पोछकर) हे शुभे ! यह समय साहस खोनेका नहींहै ।

रत०–अरी पोंछनेसे क्या होगा उमडेहुवे समुद्रका वेग तिनकेसे नहीं रुकता (फूट२ कर रोनेलगी) ।

शृं०–धैर्य धर धैर्य धर मैं कहूं सो कर । मैं जानतीहूं कि कहीं हंस कव्वेका जोड नहीं मिलता । कोई दीपक हाथमें ले कूपमें नहीं गिरता ।

रत० –क्या करूँ कलेजा उमडा आताहै–कह मैं सावधानहूं (आंसू पोंछलिये)–

शृं०–तू यहाँ कैसे आ फँसी ?

रत०–भाग्य लेआया ।

चौपाई ।

बहना कह लायो मोहिं यां री । घात करी मोसों यह भारी ॥

शृं०–हे सजनी ! यह तेरी कोमल अवस्था और यह शोक–

शैर ।

"यह हुसन और जवानी और इसपर यह गम् ।
सितमहै सितमहै सितमहै सितम् ॥"

जो फूल खिलकर कुम्हलातेहैं उन्होंने तो अपना कार्य करलिया । परंतु शोक उन कलियोंका है जो बिना खिलेही मुरझाजाँय ।

रत०–संसारमें शोक दूरकरनेका यदि कोई उपाय न होता और सुखके पीछे दुःख और फिर सुख न होता तो दुर्बल मानवप्राण इतने दिवसतक न बचते ।

शृं०–वाह प्यारी ! शृंगारका अच्छा बहाना बनाया ।

रत०–क्या तू सब सुन रहीथी ?–करती क्या ? अनेक उपायसे उस समय छातीमें गड़ा काँटा दूर किया ।

शृं०–समय खोना न चाहिये । ला अपने वस्त्र मुझे उतारदे और (पुरुषवेषके वस्त्र बताकर) इनको पहरके यहाँसे चली जा ।

रत०–हे सखी ! कहाँ जाऊँ ?–मेरेलिये आकाश पृथ्वी भरमें कहीं जगह नहीं । यदि यहाँही भूमि फटजाय तो उसमें समाजाऊं (गले लगाके रोतीहै)–

शृं०–नहीं नहीं, यहांसे बेग निकल जानाही भलाहै । और जबतक तुम्हारे प्राणपति न मिलजाँय पुरुषभेषमेंही रहना, प्यारी तेरा रूप अद्वितीयहै स्त्रीवेषमें कोई चैन न लेने देगा । मान री मान मेरा कहा मान !

रत०--सखी ! तेरा कहा न मानूंगी तो भला और किसका मानूंगी ? (वस्त्र बदलती हुई) सखी तू यहां तक कैसे आई ?

शृं०--मुझे यहाँ आये कई दिवस होगये । और पुरुषवेषमें तुम्हारे नये दुलहाकीके नौकर थी । मैंने कुसुमपुरमें एक सेठजीसे सुनाथा कि, बीरसेन एक स्त्री जंगलमेंसे लाया है और उसके साथ विवाह करताहै बस यही संशय मुझे यहाँ लेआया ।

रत०--मैंने उसकी बात मानली उस समय तो तुझको बडा संभ्रम हुवा होगा ?

शृं०--अरी ! क्या मैं ऐसी निपट नादानहूं, क्या मैं नहीं जानती कि, कमलिनी चंद्रमासे प्रसन्न होनेवाली नहीं है बरन् उसे देखतेही मुँह छिपा लेती है ।

छप्पै ।

“ परत न सीकर स्वांत नीर धर गरजत घोरत ।
तदपि पपीहा स्वाति बूँदकी आसन छोरत ॥
भरे उदधि सर कूप नैन तिन ओर न जोरत ।
तिनहिं नीच जल जान पपैया नाक सकोरत ॥
अभिमानी चातक बिहँग, पीय २ निशिदिन कहत ।
तज नीर उदधि सर कूपको, स्वाति बूंद पीयो चहत ॥”

रत०--हा ! उनकी याद ।

दोहा–“ निपट अटपटौ चटपटौ, पियको प्रेम वियोग ।
अजहूं जो मुरझै नहीं, नितप्रति बाढत रोग ॥ ”

अब मैं विश्वसेनके पास जाऊंगी कि, जिसने मेरेही लिये माता पिता और प्राणपतिको संताप दे रक्खा है । उसके सामने स्त्रीवेषमें प्रगट हो उनका बंधन छुडाऊंगी ।

शृं०–अरी बावली तू क्या बकरहीहै ? क्या तुझे उस निर्दईकी सेवामें देकर वे सुखी होंगे ?

रत०–नहीं नहीं ! तैंने क्या समझा ? क्या मैं उसकी सेवा स्वीकार करूंगी ? सो तो कदापि न होगा ! परंतु उनको बंधनसे छुडा अपने प्राण उनके संग करदूंगी ।

शृं०–अरी ! क्या आत्मघात करैगी ?

रत०–और तरह छुटकाराभी तो नहीं मिलता आली ! बार २ के घिसनेसे पाषाणभी कटजाताहै और लोहाभी चूर २ होजाता है फिर मनुष्यका हृदय तो बडा कोमल है यह क्यों न फटजाय ।

दोहा–"मिलत नैन नहिं रह सकैं, जाने नेह पतंग ।
छूटै बिरह वियोगसों, जियत जो होमे अंग ॥ "

सोरठा ।

" हे प्रिय ! विपत् वियोग, अधिक दैव यह मोहिं दियो ।
कहा जाने सब लोग, जो मेरे मनमें बसै ॥ "

अतिदुःख और अतिक्रोधमें आत्मघातही सूझती है । मालतीका पुष्प मस्तकपर रहै अथवा बनमेंही सूखजाय " अपना वही जो आवै काम " मुझे तू निकालतीहै परंतु तू क्या करैगी ?

शृं०–(रत्नकुमारीके कानमें कुछ कहकर) कुंजी मुझेदे–जा सावधान चिन्ता मत करियो ।

रत०–यह अच्छा समाचार सुनाया (कुंजी देकर पुरुषभेषमें चलीगई)

शृं०–(स्वयम्) अच्छा तो अब मुझको भी अपना कार्य करना चाहिये । यहभी अच्छा हुवा कि, रत्नकुमारीने वीरसेनसे कहदिया कि 'जब मैं शृंगार करके बैठूंगी तो आप पहिचानभी न सकैंगे–देखौ अब क्या उल्लू बनातीहूं (चलीगई)

(जबनिका गिरतीहै)

अंक–४.

दृश्य–१.

(स्थान बन.)

(विश्वसेन और विदूषकका प्रवेश.)

विदू०–(स्वयम्) हाय ! विषयभोगकी इच्छा न्यून हुई । लोगोंमें अपना मानभी घटा, समान वयसवालेभी चलबसे, जो इष्ट मित्र थे वेभी समाप्त होनेवालेहैं, अथवा अपनेही समानहैं, आपभी लकडी टेककर उठनेलगे, दांत गये, रूपगया, आँखोंमें अँधेरी छाई, तोभी यह काया ऐसी निर्लज्जहै कि अपना मरण नहीं सुनना चाहती ।

विषयोंको हमने नहीं भोगा किन्तु विषयोंने हमारा भुगतान करदिया । हमने तप न तपा तपने हमें तपा डाला, काल व्यतीत न हुवा परंतु वयस हमारी बीतगई, । तृष्णा पुरानी न हुई और हम पुराने होगये । अब "कूपखुदाये होत कहा जब घरमें लागी आग" अब समझे तो किस कामके आयू प्रतिदिन ऐसे निकलती जातीहै जैसे फूटे घड़े मेंसे पानी । नौकरीभी मिली तो ऐसेकी परंतु किया क्या जाय ? "पेट रामने बुरे बनाये खानेको मांगें रोटी । परै तीन पा चून पेटमें जब फरके बोटी बोटी" ॥

दोहा—"विषयारे कपि अग्निजल, राजा सुआ सुनार ।
यह दश होंय न आपने, पासा फाँस कलार" ॥
अफसरी नर्ककी भी भली और मातहती स्वर्गकीभी बुरी ।

छंद ।

"नृपसों सचिवसों सब मुसाहिब गननसों डरते रहौ ।
पुनि बिटहु जे अति पासके तिनको कह्यो करते रहौ ॥
मुख लखत बीतत दिवस निसि भय रहत शङ्कित प्रानहै ।
निज उदर पूरण हेत सेवावृत्ति श्वान समान है ॥"

चौपाई ।

"सेवक प्रभुसों डरत सदाही । पराधीन सपनेहु सुख नाही ॥"

"सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" क्या यह प्राण अब इस प्रकार दुःख देनेकोहैं ? परंतु किया क्या जाय "जबरका ठेंगा सिरपर" ।

विश्व०—अजी विदूषकजी ! क्या मनहीमन बडबडा रहेहो ?

विदू०—कुछ नहीं महाराज ! भजन कर रहाहूं ।

विश्व०—मृगने तो बडा धोका दिया ? आज कहाँआ फँसे ।

विदू०—वह देखिये महाराज ! कैसा अच्छा खाँडका लड्डूसा चंद्रमा निकलाहै ।

विश्व०—ब्राह्मणोंको सिवाय भोजनके कभी और भी ध्यान रहताहै ?

विदू० "आहारे व्यवहारे लज्जा न कार्"

विश्व०—मार्गभी जानतेहो ?

विदू०—हाँ, महाराज ! जानता क्यों नहीं, अपने महलसे आपके झोंपडेका और फिर वहांसे वहांका ।

विश्व०—(मुसकुराकर) हां ! आप अपने महलका मार्ग तो जानतेहैं, परंतु वहांसे किधर चलें सो बताओ ?

विदू०—बुढापेमें इन्द्रियाँ वशमें नहीं रहतीं, कुछका कुछ मुँहसे निकल जाताहै, क्षमा कीजिये, आज हमने बडा धर्म किया ।

विश्व०—वह क्या ?

विदू०-शिकार छोडदी ।

विश्व०-जब हाथ लगती न-मेरा अश्व तो उछलतेहुवे मृगछौनोंको देख चमक-गया परंतु आपभी अपने घोडेसे क्यों खिसक पडे ?

विदू०-(स्वयम्) तो क्या मैं अपनी हड्डी पसली तोडता (प्रगट) महाराज ! दौडतेहुए अश्वको मनुष्य नहीं पकड सकता इसलिये आपके अश्वको पकडनेकेलिये ही मैंने अपना अश्व भेजाहै ।

विश्व०-यों न कहो कि, अच्छीतरह चढना नहीं आताथा सो भयसे छोड दिया ।

विदू०कदाचित् ऐसाही हुवाहो । सुन्दर छंटे २ अश्वों पर जो कभी २ कुलाल अपने बरतन घरके लाया करताहै तो हम खूब चढेहैं । अहा ! वे हौंचू २ कैसा मनो-हर शब्द करतेहैं !

विश्व०-वाह महाराज ! वह बात तो उडाहीगये, रात होगई, इस बनसे निकलना चाहिये ।

विदू०-चलिये तो नाकके सीध कहीं पहुँचही जाँयगे ।

विश्व-(हाथसे बताकर) वह देखो हमारे सैनिकोंमेंसे कोई आरहेहैं, तीन सवारहैं । हैं ! यह क्या ? वे तो घोडोंसे उतर पडे और कृपाण खींचकर झपटे आतेहैं ! यह तो डाकूहैं ! इनके लाललाल नेत्र (अपनी कृपाण खींचकर) अरे ! चाँदनीमें अब पहिचाने यह तो वेहीहैं जिनके यहांसे मैंने वह सुन्दर कन्या अपने लिये मंगाईथी और इन्होंने झगडा किया ! यह कारागारमें देदियेथे ! निकल कैसे आये !

विदू०-(स्वयम्) लो बचा ! भोगो अब कुकर्मके फल (घबड़ाकर) महाराज ! सर्वनाश ! (काँपताहुवा) अब क्या करूं ? किधर जाऊं ? (स्वयम्) इस पापीके संग क्या जान थोडीही देनीहै ? (प्रगट) हाय मेरी ब्राह्मणी ! हे बुधूकीमा ! मा ! मैं मरा ! मा ! बुधूकी ! सिंहकी गरज और पहाडमें बोलना-डाकू और जंगलमें-हम अकेले कहो तो नगरसे सेना पतिजीको बुलालाऊं ?

विश्व०-(ललकारके) रे कायर ! क्याहै ? क्यों घबड़ाताहै "साँपसिरपै बूँटीपहा-डपै" मूर्ख और गधेका चुप रहनाही भलाहै-उस पेडकी आडमें हो रह-मैं निबट लूंगा ।

विदू०-हमारे तो बाल बच्चे और बुधूकी मा रोवैंगे (छिपना चाहताहै)

(तीन रुष्ट पुष्ट पुरुषोंका नंगी कृपाण लिये झपटतेहुवे प्रवेश.)

एक-अरे ! यहीहै ! यहीहै ! मारौ ! मारौ ! मारौ !

दूसरा-झपटौ ! झपटौ ! आच्छा अवसरहै !

तीसरा-(आज सब अन्यायका बदला लेलो देखो यह कौन छिपाहै (विदषकका हाथ पकडके खींचलिया) अरे ! यह बडी हैंमें हां मिलाता था-

बिदू०–(गिडगिडाकर) महाराज ! मैं तो आपका दासहूं मुझे काहे मारतेहो यह (पगडी उतार उस पुरुषके पैरोंपर धरताहै)लो तुम्हारे हाथ जोडूं ।

विश्व०–(ललकारके) खबरदार ! उससे हाथ लगाया तो मेरे सामने आओ ! तुमको तो कारागारमें दिया ।

तीनों–(विश्वसेनपै शस्त्र चलातेहुवे) ले सावधान ! हां ! हम कारागारमेंथे भला हो चंद्रपुराधीशका उनके भागनेका रहस्य जान हमभी निकलआये । लेसंभाल !– (एकने लाठी मारी)

दूसरा–देखो मारोमत बांधलो । जैसा इसने अन्याय करके हमको दुखदिया हम भी तो चक्की पिसवालें ।

विश्व०–भाई तुम्हें चाहिये सो माँगलो•हमें छोडदो–

विदू०–हमारे महाराजको छोडदो लो मैं अँगरखा धोती उतारदेता हूं यह बडे मूल्यकेहैं हमारी नानीने आप सूत कात २ के बनाये थे ।

तीसरा–चुप बे बुढ्ढे ! क्यों बक २ करता है !–(औरोंसे) अरे कुछ घायल तो करदो (विश्वसेनपर कृपाण चलाना चाहता है)

(नैपथ्यमें)

रे दुष्टो ! खबरदार ! खबरदार ! हाथ छोडा तो ! आओ ! आओ ! जलदी चले आओ ! बाँधलो सबको ! जाने न पावैं ।

(एक युवकने आकर झट कृपाण चलाने वालेको पकडना चाहा परंतु वह छुडाकर भागगया और दूसरे दोभी भागगये.)

यु०–(विश्वसेनके बंधन खोलताहुवा) हे सज्जन ! आप कौनहैं ? और इन दुष्टोंके फंदेमें कैसे फँसे ?

विश्व०–प्रथम इस समय हमारी सहायता करनेका आपको धन्यवाद देताहूं । यहाँसे थोडी दूरपर कुसुमपुरनामका एक नगरहै, मैं वहाँहीं रहताहूं ।

विदू०–(विश्वसेनकी ओर संकेत करके) आप वहांके नराधिपतिहैं ?

यु०–अहा ! आपही महाराज विश्वसेनहैं ! मैं आपसे मिलकर बडा प्रसन्नहूं ।

विश्व०–हां ! आपका कृतज्ञ मैंही हूं ।

यु०–यहाँ कैसे पधारना हुवा ?

बिदू०–अजी ! " चलेथे छब्बे होने यहाँ दुब्बेही रहगये "–आयेथे शिकार मारने यहां आपही शिकारहो गयेथे ।

यु०–अब आपको विशेष यहा न ठहरना चाहिये ! यह प्रांत भयभीतहै और रात्रिका समयहै ।

विश्व०--हे सज्जन ! आपने जो कृपाकीहै मैं इस ऋणसे उऋण नहीं होसकता। कृपा करके आप अपना नाम और पता बतलावैं और मेरे साथ चलके कुटीको पवित्र करैं।

यु०--(स्वयम्) जाना तो अवश्यहीहै (प्रगट) आप पृथ्वीनाथहैं, आधीनताके बचन नहीं कहने चाहिये।

विश्व०--स्वरूपसे आपभी कोई सामान्य पुरुष तो नहीं जान पडते।

यु०--मैंतो सामान्यसे भी गयाबीताहूं रतनसेन मेरा नामहै,--चंद्रपुरीके एक धनाढ्यका पुत्रहूं, अपने मित्रके खोजमें फिरताहूं।

विश्व०—हे भव्य ! यदि हमारी सेवाके योग्य कोई कार्य होतो बताइये।

यु०--बडोंकी कृपासेही सब कार्य सिद्ध होते हैं। मुझे आज्ञा दीजिये अपना मार्ग देखूं।

विश्व०--सो नहीं होगा--वन और रात्रि आप अकेले। उस समय पीछेसे आप सहायताके लिये किनको बुला रहेथे ?

यु०--मैं तो अकेलाही था, यदि ऐसा न करता तो वे क्या डरनेवाले थे ?

विश्व०—आपको एकबेर कुसुमपुरतक अवश्य परिश्रम करना पडैगा।

यु०—

श्लोक।

"न नटा न विटा न गायना न परद्रोहनिबद्धबुद्धयः ॥

नृपसद्मनि नाम के वयं कुचभारानमिता न योषितः ॥*

विश्व०—आप कोई न सही—उपकारीहैं।

यु०—यदि मैं अपने कार्यमें विघ्न करना नहीं चाहता, परंतु राजआज्ञाका अपमान न करना चाहिये—चलताहूं।

(सब जातेहैं—)

दृश्य २.

(स्थान विश्वसेनका भवन.)

(माल्ती और सरस्वतीका प्रवेश)

मा०—क्यों री ! यह निगोडा रतनसेन कौनहै ? और कहांका है ?

स०—क्यों काहेको पूँछतीहै ? क्या कुछ जी चलाहै ?

मा०—चल हट दूरहो, तुझे सब बातोंमें हँसीही सूझतीहै, क्या तू नहीं जानती कि, जिस दिनसे मनोरमाने उसे झरोखेमेंसे चौगान खेलते देखाहै, बावलीसी होरहीहै—यौवनके अंकुर कंचनसी देहसे उमंगने लगेहैं जाने क्या होनीहै—"कर्मगति टारीहू न टरै"।

---

* अर्थ—न तो हम नटहैं न परस्त्रियोंसे लम्पटहैं, न गवैयेहैं, न झूठे लबारहैं, और न बडे २ स्तनवाली स्त्रियें हैं फिर हमारा राजाओंके घर क्या कामहै ?

स०-अरी ! जानतीतो मैं भी हूं और अबतो यह बात शनैः २ महाराजके कानतक भी पहुँचगईहै । कल सायंकालको जब हमारी सखी उस सज्जनके चित्रपटको संमुख धर अपना प्रेम दरसारही थी, अचानक महाराजभी उधरसे आ निकले और आड़से सब कुछ सुनलिया । आली ! यह बडी उरिझन पड़ीहै ।

मा०-प्रेमका यही नियमहै वह आपही दो दिलोंमें उत्पन्न होकर उन दोनोंको आकर्षण शक्तिसे मिला देताहै । इसमें प्रेमीजनोंका कोई दोष नहीं । वह तो उसकी ओर टकटकी बाँधे देखाही करतीहै-हाय ! यह प्रेम लज्जाका कैसे मुँह मोड़ देताहै ?

स०-अरी ! प्रेम तो रूपकीभी परवाह नहीं करता, जहां गुण न देखकर केवल रूपहीके लिये प्रेम होताहै, वह विशुद्ध प्रेम नहीं विशुद्धप्रेम एक प्राकृतिक और स्वर्गीय पदार्थहै इसमें यद्यपि दूषणभी हो परंतु प्राणही उसे भूषणकर मानते हैं, तिसपर तो वह सजीला और सुन्दर जवानहै । आली ! स्रोतका जल रुका रहै तभीतक बंधित रहसकताहै । बध टूट जानेपर किसकी मजालहै जो फिर उसके बेगको रोकसकै ?

मा०-हां ! यही दशाहै, परंतु हीरा सदा पत्थरमें ही नहीं रहता कभी न कभी वह जोहरीके हाथ लगताहीहै किशोर अवस्था गई, युवा अवस्था आई, इसीमें काम अन्याई अपना अवसर पाताहै । बचपनके पगोंकी चंचलता अब नैनोंमें समाईहै, यौवन दिन दूना रात चौगुना बढरहाहै ।

चौपाई।

"अरन लगे जब दोऊ नरेशा। छीन परयो तब त्रिय मधदेशा" ॥

प्रेमको जहाँ प्रेम मिला बस वहाँही फँसगया वह और बस्तु की इच्छा नहीं रखता । अरी ! चित्र उसके पास कहाँसे आया ।

स०-मैंनेही बनादिया था, दृष्टि सौंदर्यपर पड़कर उसीकी होरहतीहै, फिर वहांसे हटना नहीं चाहती ।

मा०-फिर महाराजने कुछ कहा तो नहीं ? ।

स०-हां अपने भवनमें जाकर मुझे बुलाया और सारा वृत्तान्त पूँछा ।

मा०-क्या तैने स्पष्ट सब कह दिया ?

स०-हाँ ! कहदेनाही उचित था, महाराजकी उस युवकपर बडी कृपाहै । अपना महामंत्री बनालियाहै । और जबसे राज्यकार्यभी खूब चलरहाहै, और इकलौती संतान होनेके कारण मनोरमाकोभी बहुत प्यार करतेहैं । ऐसी अवस्था में इष्टमित्रोंके मिलापकी सम्भावना देखकर कहदेनाही उचित समझा ।

मा०-महाराजकी इस विषयमें क्या सम्मति पाई गई ?

स०–वही जो मैं सोचतीथीं, उन्होंनेभी यही कहा कि, मैं रतनसेनको सबप्रकारसे अपनी पुत्रीके योग्य देखताहूं। यदि वहभी स्वीकार करै तो यह सम्बंध कर दियाजाय ! घरका लाल घरमें रहै इससे क्या उत्तमहै ?

मनोरमा–(जो आड़से सब सुनरहीथी--स्वयम्) रे मन ! धैर्यधर ! धैर्यधर ! तेरी इच्छा पूर्णहोनेका समय निकटहै । परंतु हा ! कदापि मुझ अभागीको वे स्वीकार न करैं ? (आगे बढके प्रगट) आज दोनों एकान्तमें क्या गुलछर्रे उडारहीहो ?

मा०–रतनसेनसे सरस्वतीका विवाह कराना चाहतीहूं सो ये बजमारी राजीही नहीं होती ।

स०–(मालतीसे) अरी बावली ! जो वस्तु अपनी स्वामिनीको प्रियहै, उसे कभी दासीको ग्रहण करनेका अधिकार होसकताहै ?

मनो०–तुम न मानोगी, लो मैं यहांसे जातीहूं (चलनेका मिस करतीहै)

मा०–कहांको ? कहांको ? क्या वहीं ? रतनसेनके पास ? अरी ! हमेंभी लेचल ? (मार्ग रोक लेतीहै)

मनो०–बस बस ! जानेदो मोयको ।

मा०–आली ! ऐसा मान तो विवाहोपरांत रात्रिको भली शोभा देगा ।

मनो०–बहुत हुई–हँसी रहनेदो ।

स०–हुई तो अभी कुछभी नहीं, आगे होगी ।

मनो०–(मुसकुराहटके साथ त्योरी चढाके) मुझे ऐसी बात अच्छी नहीं लगती ।

मा०–तो फिर सरस्वतीसे उनका विवाह करादें तुमतो अप्रसन्न न होगी ?

मनो०–हमारी सखी आनन्द माने और मैं अप्रसन्न क्यों होनेलगी ।

स०–मनकी कह मनकी ।

मनो०– दोहा–मनकी तो मनमें लगी, सुध बुध तनकी नाय ।
मो मनकी मैं जानती, पर मनकी सुध काय ॥

मा०–(हँसके) आली ।

दोहा–प्रीत छिपाये ना छिपै, कोटिन करौ उपाय ।
दौं लागी ज्यों ना बुझै, बिन जल शीतल पाय ॥

हे सजनी ! चिन्ता मतकर और विह्वल मतहो, उनको राजी करलेना हमारा कामहै ! जिसको जो रोग लगा उसकी औषधि लेनेमें काहेकी लज्जाहै ? तैनें कोई अत्र पत्रनी भेजाहै ?

मनो०–मैंने सिवाय अपने मनके और कुछ अभी नहीं भेजा–अब एक पत्र लिख-लाईहूं (कंचुकीमेंसे पत्र निकालककर देतीहुई) इसे किसीप्रकार पहुँचादो ।

मा०-(पत्र लेकर) तुम्हारा उनपर विश्वासहै ?

मनो०-अरी ! प्रीतिमें अविश्वास पास नहीं आता।

स०-(मालतीसे) देखो ! जिसको जी चाहताहै, मन आपही उद्योग करके उसके खोजमें लगजाताहै।

मनो०-अरी ! वह निर्दई मुझे दुःख देताहै और नितप्रति स्वप्नमें आकर...... (शिर नीचा करलिया)

मा०-तो इसमें उस विचारेका क्या दोष ?

मनो०-यही कि, मेरे चित्तपर काबू करलिया।

चौपाई।

प्रिये सखी कछु करहु उपाई। जासों यौवन वृथा न जाई॥

स०-अब चलौ विलम्ब बहुत हुवा !

(सब जातीहैं)

दृश्य ३.

(स्थान विना वृक्षका रेतीला मैदान.)

(एक वृद्ध स्त्री पुरुष फटे तन कपडे धूपसे व्याकुल एक टीलेकी आडमें बैठेहैं)

पुरुष चंद्रकीर्ति-हा ! (दुखःसे) क्या हमारे अशुभ कर्मका उदयहै ! राज्य गया लक्ष्मी गई, वन उपवन और जंगल २ भटकते फिरतेहैं, जब आदमीके बुरे दिन आतेहैं तो हाथी चढेभी कुत्ता काटता है।

वृद्धस्त्री चम्पादेवी-महाराज ! मेरे तो प्यासके मारे होंठ शुष्क होगये, पगोंमें गरम रेतसे बडे २ छाले पडगये और पसीनोंसे यह फटे वस्त्र भीग गयेहैं और इनमेंसे दुर्गंध मारतीहै, चाहे यहांही प्राण निकलजायँ अब तो चला नहीं जाता।

चंद्र०-हे देवी ! आप महलोंकी वासी काहेको कभी ऐसा संताप भोगा था ! यदि मुझ दुष्टके पाले न पडतीं तो क्यों आजदिन यह आपत्ति भोगनी पडती ?

चम्पा०-महाराज ! मुझे अपना कुछ शोच नहीं, आपकी दशा अपनीसेभी अधम देख रहीहूं, यह मुझसे नहीं देखाजाता (रोतीहुई) हाय ! न जाने प्यारी रत्नीकी क्या दशाहै ? और कहाँहै (फूटफूटकर रोतीहै) रे दुष्ट निर्दई विश्वसेन ! तेरा बुराहो !

चंद्र०-(नेत्र डबडबाके) प्रिये ! रोने और चिल्लानेसे क्या होगा ? इस तप्तखंडमें आपके रुदनपर करुणा करनेवाले वृक्षभी नहींहैं; कुछ किसीका दूषण नहीं, सब अपनी प्रारब्धका भोगहै।

चम्पा०--हाय ! कब इस विपदका अंत होगा ? सरोजभी हमें सोते छोड चलदिया (रोतीहै.)

चंद्र०--हे शुभे ! रोरोके क्यों अपने कष्टभरे शरीरको और दुःख देतीहौ !--विपदमें कोई किसीका साथी होताहै ? अभी न जाने क्या २ और भोगनाहै !--

दोहा--"दुर्बल दीन मलीन तन, महाविपदकी खान।
भाग्यहीन संसारमें, नरतिर्यंच समान ॥"

चम्पा०--तृणरहित भूमिपर अग्निभी कुछ नहीं करसकती । इससे विशेष और क्या दुर्गति होगी ? अब हम क्या करैं और कहाँ जांय प्यारी बेटीको कहाँ ढूंढैं ? प्यासकेमारे मेरे तो गलेमें फाँस पडगई, अब बोलाभी नहीं जाता।

चंद्र०--हा खेद ! हा शोक ! आज हमारी यह दशा एक प्रतापी राजाकी रानीको पानीकी बूँद नहीं मिलती (इधर उधर देखके) यहां तो दूरतक पानीका चिह्न नहीं दीख पडता। हा ! अब तो प्याससे मेराभी कंठ रुकनेलगा. (नेपथ्यकी ओर देखकर) यह सवारसे कौन चले आतेहैं ? इन्हींसे पानीका पता पूछूं। यह क्या ! तीनों उतर पडे एक सरदार और दो नौकरसे जान पडतेहैं। वह देखो नौकरोंको अपना अश्व सौंप हमारी ओर चला आताहै।

(सरोजकुमारका अच्छे वस्त्र पहिनेहुवे प्रवेश.)

यह कौनहै ! (भलीभाँति देखकर) सरो......(बोल नहीं सका--उठकर सरोजको गले लगालिया.)

सरो०--महाराज ! बिलम्ब न करिये चलिये वे दो अश्व उपस्थितहैं।

चंद्र०--(कुछ उत्तर न देकर--हाथसे मुँहकी ओर पानी पीनेको संकेत करताहै।

सरो०--हा खेद ! हा खेद ! प्याससे इनकी यह दशा ! बोलाभी नहीं जाता (ऊंचे स्वरसे) जयदेव ! पानीकी छागल लाओ--(स्वयम्) सत्यहै आपत्तिमें अपना तनभी साथ नहीं देता और मृत्यु समय आँखोंकी पुतलियाँ भी फिरजाती हैं। (दोनोंको पानी पिलादिया)

चंद्र०--बेटा ! इस समय तुमने हमको जीवदान दिया।

सरो०--महाराज ! मैं आपका दासहूं, अब चलिये हमारे झोंपडेको अपने चरण कमलोंसे पवित्र कीजिये।

चम्पा०--बेटा ! एक तो हम विपताके मारे, दूसरे पुत्रीका शोक, तीसरे तुम भी छोडकर चलेगये। यदि थोडी देर और न आते तो हमको मृतकही पाते।

सरो०--माताजी ! ऐसे शब्द मत कहो, जीवदान देनेवाला मैं कौनहूं ? आपकी सेवासे अपनेको धन्य संमझताहूं। मैं जानता था कि, यंपुरतक आप पैदल न चलसकैंगे इसी कारण पिताजीसे मिलने और आपके लिये अश्व लेने गयाथा। पिताजीने कंचनपुरके राजासे सम्मिलन करके सहायताकी प्रतिज्ञा लेलीहै अब विश्वसेनसे बदला लेंनाहै। भूख प्याससे आप बहुत निर्बल होगये हैं चलिये।

चंद्र०--इसकी क्या चिन्ता है ? दीन भोजन उस समय करै जब मिलजाय और धनाढ्यको जब भूखलगै।

दोनों--वृद्धावस्थामें अब बेटा हो तो तुम, बांधवहो तो तुम जो कुछहो तुमहीहो कहोगे वैसे करैंगे (आँसू भरके) परंतु हाय ! हाय प्यारी रत्नी ! (कंठ रुकगया)

सरो०--दुःखका जितना जलदी प्रभाव होताहै वैसा जलदी सुखका नहीं होता। परंतु मनुष्यका कर्तव्य यहीहै कि, उद्योगसे खाली न रहै। उद्योगीके पास असम्भवभी अपना आकार छोडदेताहै। हे मातापिता ! कुछ चिन्ता मत करो अब आपकी विपदका अंत होनेवालाहै वेभी कहीं मिलजाँयगी (दीर्घश्वास लेकर) आप तो चलैं।

दोनों--अच्छा बेटा ! चलो।

(सब जातेहैं.)

दृश्य ४.

(स्थान विश्वसेनके भवनका पाईं बाग)

(विश्वसेन और रतनसेन टहलरहेहैं)

विश्व०--तुमने मेरी बातका कुछ उत्तर न दिया ?

रतनसे०--महाराज ! क्या उत्तर दूं, गधा हाथीकी झल नहीं लेजासकता और चैंटी पसेरीका बोझ नहीं उठा सकती।

विश्व०--नहीं नहीं ! तुमको मैं सर्वप्रकारसे अपनी पुत्रीके योग्य वर देखताहूं।

रतनसे०--(स्वयम्) अब क्या करूं राजा हठकरताहै--मेरा कार्य हुवानहीं--उनका पता नहीं (उदासचित्त होके) धिक्कारहै मेरे इसजीवनपै और मुझपर।

विश्व०--क्यों भाई किस शोचमेंहो, प्रत्यक्ष उत्तर क्यों नहींदेते ?--देखो तुम जानतेहो मेरे पुत्र है नहीं, तुमही राज्यके मालिकहो,--कन्यादानके साथही राज्यका दानभी करदूंगा।

रतनसेन--(स्वयम्) शत्रुसे बदला लेनेका अवसर तो अच्छाहै--परंतु...(प्रगट) यह गम्भीर विषय है, कुछ सोचके निवेदन करूंगा।

(नैपथ्यमें)

(श्रीमहाराजके पूजनार्चनकी सामग्री तैयारहै और समयभी होगयाहै.)

विश्व०--अच्छा तुम अभी विचारके उत्तर दो मैं थोडी देरमें आताहूं (ऊंचे स्वरसे) मालती ! यहां आ (स्वयम्) मनोरमाके विषयमें कुछ बातचीत करनी होगी तो यह करलेंगे। (मालतीका प्रवेश) मेरे आनेतक तू यहांही ठहरना।

मा०--जो आज्ञा महाराज !

विश्व०–(रतनसेनसे) मैं अभी स्पष्ट उत्तर सुनना चाहताहूं विचार रक्खो (चलागया.)

मा०–(रतनसेनसे) मैं आपको बधाई देतीहूं ।

रतनसे०–काहेकी ?

मा०–आप बने बनैंगे जिसकी–लीजिये यह पत्र–आपकी प्राणप्यारीने भेजाहै । (पत्र देतीहै.)

रतनसे०–(पत्र खोलता हुवा) अभी ऐसे कहनेका मैं अधिकारी नहींहूं–हैं तो कुशलसे ?

मा०–जो कुछहै पत्रमेंहै पढ लीजिये ।

रतनसेन–(पत्र पढताहै)

'परमप्रिय प्रेमाधार प्राणपति योग्येषु । अपना मन इस पत्रद्वारा प्रेरण करतीहूं उचितस्थानमें धर पहुँच भेजियेगा । इसके सिवा और कुछ भेटको मेरे पास नहींहै, केवल टूटा फूटा प्राण शेषहै, आज्ञा हो तो वहभी न्योछावर करदूं ।

रागपीलू ।

"लीजै प्रेमको उपहार ॥
राखि हियमाहिं करहुँ पूजा । अन्य सबहिं बिसार ॥
हम भिखारिन पास हमरे है कहा जाहि देहिं ।
हीय अरपण कर तुमहिं हम तुमहिं तामहिं लेहिं ॥
धाराप्रेमकी असरार ॥"

अजी हम:भिखारीहैं, रतिदान माँगतीहैं,: क्या भूखेको भोजन देनाभी पापहै ? हे महाराज ! सूर्य और चंद्र बिना याचनाकेही कमल और कुमुदको प्रफुल्लित करतेहैं । यह मेराही दुर्भाग्यहै । करीलवृक्षमें पत्ते नहीं लगते तो इसमें वसंतका क्या दूषणहै ? उलूकको दिनमें नहीं दीखता तो सूर्यका क्या दोषहै ? और चातकके मुखमें जलकी धारा नहीं पडती तो मेघका क्या कसूर ? अजी ! सूने घरमें दीपक जलकर आपही ठंड होजाताहै ।

दोहा–"तुव मधुकर मैं केतकी, आय बास रस लेउ ।
मैं सीपी तुव स्वातिजल, ओस बूँदभर देउ ॥"

चौपाई ।

"इक पट ओढ पौढ सुख लीजै । आवहु छिन २ जुबना छीजै ॥
वृक्षनसों लिपटतहै बेली । जिन मोहिं हँसत हैं देख अकेली ॥"

दोहा–"चंदन चरचत देहमें, अग्नि उठै भहराय ।
चंद्र किरण घृतसी परै, बाल व्याल है खाय ॥"

सोरठा।

"विपत न बरणी जात,दई जो प्यारी प्रीतने। औचक आधीरात,पीउ पीउ पपिया करे॥"
"इक तो दारुण शीत,और शीत अरि चंद्रमा।घर आवहु अब मोत,छिन छातीसों लागिये॥

चौपाई।

अधर सुधारस तुम पिय पीयो। गूमत है यह हमरो हीयो॥
आवत तनक न दाया तुमको। काम क्रूर मारतहै हमको॥"

हे नाथ! मृगजलकी भाँति तृष्णा दिलाकर प्यासी क्यों मारतेहो? भला कोईभी अपनी प्यारीको पराये हाथ देताहै? जो आपनेही मैं बिरहाको सौंप रक्खीहूं?

क्या मुझसे तकसीर भई, क्यों दरस दिखाना छोडदिया।
सपनेमेंभी भूलगये, मनकोंभी बहलाना छोडदिया॥

हे प्यारे! जो मुझे याद नहीं करते तो मेरे प्रेमकोही याद रखके दयाकरो। प्रत्याशा देखते कितना समय बीता? अब नहीं सहाजाता।

ठुमरी पीलू।

"प्यारे निठुराई मत कीजै। यह यौवन नित छीजै॥
ऐसो निष्ठुर हियो तुम्हारो। नेकहु नाहिं पसीजै॥
बार २ विनवतहूं प्रीतम। मोहिं संग लै लीजै॥
ऐसे कठिन समयमें प्यारे। मुझको दगा न दीजै॥
यह दासी दर्शनकी प्यासी। प्रेम नीर विन सीजै॥"

प्राणके विना शरीर नहीं रहता तो प्राणपति विना मैं कैसे रहूं?

दोहा—"दृष्टि परी जा दिवसते, तबते रुचै न आन।
रजनी नींद न आवही, विसरयो भोजन पान॥
दरशनको नैना तपें, बचन सुननको कान।
मिलबेकों हियरा तपें, जियके जीवन प्रान॥
पूरण शशि मुख देखके, चित चोरयो वाही ओर।
रूप सुधारस पानके, सादर कुमुद चकोर॥
आय भवन क्रीडा करौ, प्रीतम प्रण प्रतिपाल।
प्रीत सुधा वनमालती, तुम भोगी भ्रमर भुवाल॥
यों रटें लागी लगनकी, जैसे चातक मोर।
प्रेम नीर वर्षा करौ, मेरे चितके चोर॥"

हाय! कभी एक कागजका परचाभी नहीं लिख भेजते जिससे कुछ तो संतोष हो

दोहा–"कागद नहीं कि लेखनी, नहीं लिखनकी रीत।
कै तुम लिखनहिं जानते, कै मनौ विसारी प्रीत॥"

प्यारेजी! विशेष क्या लिखूं मैं आपकी होचुकी ?:–
दर्शनकी प्यासी दासी–मनोरमा।

रतनसेन–सुनो मालती! महाराजभी मुझसे बडा आग्रह करतेहैं, परंतु मैंने अभी-तक स्पष्ट उत्तर इसीकारण नहीं दिया कि, मैं नहीं जानताथा कि, यह सब कुछ तुम्हारी सखीकी इच्छासे होरहाहै अथवा अनेच्छासे? आज इस पत्रके पढनेसे मेरी शंका दूर हुई?

मा०–चकोरकोही चंद्रमाकी इच्छा होतीहै यदि चंद्रमा न भी चाहै तो चकोर उसे छोडना नहीं चाहती।

रतनसे०–अब एक बात मैं स्पष्टरूपसे कहताहूं, यदि तुम्हारी सखी मुझे चाहतीहैं तो स्वीकार करें।

मा०–वे तो आपपर प्राणभी न्योछावर करनेको तैयारहैं।

रतनसे०–विवाहोपरांत छैमास पर्यंत रतिदानकी इच्छा मुझसे न करें।

मा०–यह तो बडी ही कठिन प्रतिज्ञाहै। आग फूसको इकट्ठा करके आप कहतेहैं कि, आग न लगै?

रतनसे०–यह बात यदि तुम्हारी सखीको स्वीकार हो तो मैं विवाह करसकताहूं।

मा०–महाराज! इसमें क्या भेदहै?

रतनसे०–समयपर आपही खुलजायगा।

(नेपथ्यमें किसीके गिरनेका शब्द)

मा०–(चौंककर) हैं! यह कौन? किधरसे शब्द हुवा?

रतनसे०–(महलकी ओर) इधरही! वह देखो लताकी आडमें कोई स्त्री गिरीहै।

मा०–हाय! यह तो मनोरमा! (निकट जाके) अरी! तू यहाँ कहाँ आई! हैं, यह तो अचेत! क्या यह सब कुछ सुनरहीथी। (रतनसेनसे) लो आपकी प्रतिज्ञाने प्रणईकी क्या दशा कीहै? (झिरनासे जल छिडकके) चेत करो! हे सजनी चेत करो! देखो तुम्हारे संमुख कौन खडेहैं? इनसे दो दो बात तो करलो। चुप क्यों साधीहै?

मनो०–(उठतीहुई) अरी मालती! इनसे निवेदन कर कि आप जो आज्ञा करैं मुझे स्वीकारहै। मेरे निकट तो रहैंगे। दर्शनसेही अपना हृदय संतुष्ट करलूंगी। राजी हूं मैं उसीमें जो उनकी रजाहै"

"पाचे आम पचीसे महुआ। तीस बरस इमली फल हुआ॥"

परंतु किया क्या जाय? जो इनकी इच्छा दुःख देकर मेरी परीक्षा करनेहीकी है तो मैं इसमें भी राजीहूं।

रतनसे०--हे सजनी ! आप मेरे लिये क्यों इतना संताप उठातीहैं मुझसे अच्छे रं और गुणवान् बहुतसे राजपुत्रहैं, मैं आपके योग्य नहीं ।

मनो०–हे प्राणेश !

दोहा--"रविको कमल अनेकहैं, कमलनको रवि एक ।
हमसी तुमको बहुतसी, तुमसे हमको एक ॥"

रतनसे०--यदि आपने ऐसाही दृढ विश्वास करलिया है तो हे प्रिये ! मैं उसी प्रतिज्ञापर जो अभी आप स्वीकार करचुकीहैं मैं आपको अपनी बनाताहूं और मैं आपका होताहूं । लीजिये (अपनी मुद्रिका उतार देताहै) और अपनी मुझे दीजिये ।

मनो०–(सावधान होके) अब मेरा संशय दूर और चित्त प्रसन्न हुवा । (अपनी मुद्रिका देतीहै)

मा०–सखी ! चलौ तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुवा । महाराज आते होंगे हमारा विशेष ठहरना उचित नहीं ! अब तो नित्तही मिलैंगी । (दोनों चली गईं.)

रतनसे०–(स्वयम्) चलौ यहभी सही ।

(दूसरी ओरसे विश्वसेनका प्रवेश)

विश्व०–कहो क्या विचार निश्चय किया ?

रतनसे०–आपकी आज्ञाका पालन करना ।

विश्व०–" शुभस्य शीघ्रम् " विवाहोत्सवके साथ आजही राज्याभिषेकका प्रबंधभी करताहूं ।

(दोनों जातेहैं.)

दृश्य–५.

(स्थान सूर्यपुरमें चौपडका बजार.)

(सरोजकुमार और बीरसेन सामान्य मनुष्योंके भेषमें टहलते चले जातेहैं.)

स०–वाह ! मित्र ! अच्छा हाथ मारा कहँसे हाथलगी ? तुम तो ब्रह्मचारीही रहने कहते थे कहौ नई दुलहनजीसे कैसे पटतीहै ?

बीर०–भाई ! कुछ न पूँछ–बस मेरी मैंही जानताहूं ।

स०–क्यों क्या हुई ? क्या कुछ मन नहीं मिले ?

बीर०–यार ! क्या कहूं–पहिले अच्छी भली चंगीथी–जिस दिनसे विवाह हुवा बिक्षिप्तसी होगईहै लातों मारतीहै और दाँतों काटतीहै सब घरको सिरपर उठा रक्खाहै मुखकी कांतिभी बदलगई, विवाहसे कुछ दिन पहिले जो सोहनी सूरत थी, विवाह पीछे वैसी न रहीं ।

स०—तो क्या एक बेरभी तुम्हारी अच्छी तरह बात चीत नहीं हुई ? देखो भार्या अपनाही आधा अंगहै, उसको दुःख देना अपनेही शरीरको दुखी करनाहै।

बीर०—अजी ! बातचीत गई चूल्हे भाडमें मुझे तो जी बचाना कठिन होरहाहै। वहाँ मैंही दुखीहूं, सुख किसको दूं।

स०—क्या पहिले राजी नहीं करलीथी ?—

बीर०—कर तो सब कुछ लीथी, परंतु एक पेश नहीं जाती बनमानसको महलभी उजाडही भासताहै—अब कैसे पीछा छूटै ?

स०—(हँसकर) वाह ! फिर तो वह बिचारी यही कहती होगी न कि।

दोहा—"हीनपुरुष घर कामिनी, प्रीतम छांडी नार।
काहे जन्म दीनों दई, काहि रची करतार॥"

तुम भले हमारे भित्र हुये एक स्त्री वशमें नहीं की जाती (कुछ शोचके) यह एक रोगहै मैं इसकी अच्छी औषधि जानताहूं।

वीरसेन—(मुसकुराकर) अच्छा वैद्यजी ! आपसेही चिकित्सा कराऊंगा।

सर०—(स्वयम्) देखूं तो है कौन ?

(एक सुन्दर स्त्री ऊपर बोखरेमेंसे)

"अहो पथिक बर्षतहै घाम। रंचक यहाँ करहु विश्राम॥
इततै निकट सरोवर तीर। शीतल मंद सुगंध समीर॥
गहवर तरु तमाल हैं जहाँ। प्रफुलित वल्लि मलिका तहाँ॥
बोलैं शुक सारस पिक तोती। चातक हरिपर कपोत कपोती॥
मीठी ध्वनि सुन यह मन आवै। नैन मनो चट सार पढावै॥
छिनक छाँह लीजै रस पीजै। फेरहि उठ मारग मन दीजै॥
सुन्दर सेज सँवार बिछाई। आवह सजन काम चित लाई॥

दोनों—(ऊपर देखकर) यह तो किसी वेश्याका घरहै।

वेश्या—(ऊपरसेही) हे बटोही।

लावनी।

क्या बिछी मुलायम् सेज अकेला घरहै।
इस घरके अंदर नहीं दूसरा नर है॥
बेखटके चैन उडाओ याँ किसका डरहै।
तेरी विनय करै दिलदार स्वयम् सुन्दर है॥
घर छैल छबीली नार नित रस पीजै।
हमरोहू कर अधर पान सुख लीजै॥

मेरी बारी कंचन देह प्रेमरस भीजै।
कर कर के काम किलोल प्रेम रस दीजै॥
सरोज–हम प्रेम छके भरतार नार अपनीके।
वह फिरै भटकती हाय कहां बिन पीके॥
दिल हम उसको दिया फिरैं बिन जीके।
बिन प्राण प्रिया नहिं लगैं बचन मोहिं नीके॥
तोहि और बहुत मिलजाँय आँखके अंधे गांठके पूरे।
तेरा रहै जोबन यह सदा रूप सम हूरे॥
मैं धन्यवाद तुमें देऊं रहो मोसों दूरे।
हमें जान देहु निजमार्ग विपतके झूरे॥

वेश्या– राग सोहनी।

हे भँवर! कित भ्रमत डोलो भवन हमरे आइये।
सुन्दर सरोवर कमल विकसे रस पानकर सुख पाइये॥
सरो०–अहो सजनी! निकट रजनी कमल सम्पुट जोगहैं।
बासके रस फँसके हमहुं प्राण अपने ना दहैं॥
वे०– चित प्रसन्न नहिं रहत नितप्रति एक भोजनके करै।
कली कली रस लेत अली सुख पवन भाहीं विचरै॥
सरो०–आरोग्य देही रहत सुन्दर! एक भोजनके किये।
मदन जहाँ तहाँ नष्ट करके नाहिं वह बहु दिन जिये॥
वे०– उच्च घरमें जन्म लीनों ऐशके साँमाँ सभी।
हो निकट दिलदार कोई जिन्दगीका सुख तभी॥
सरो०–एकहै मन दो नहीं हम अपन भावनको दिया।
सोच टुक अन्याय कैसा छिप सुधा उससे पिया॥
वे०– हाय! कुछ तो दया कर बारी उमरिया पेखके।
मन चला हमरा तुम्हारी यह जवानी देखके॥
सरो०–क्षमा कीजै क्षमा कीजै जान दीजै निज घरैं।
वयस तुम्हरी फलै तुमको उछिष्ट भोजन ना करैं॥

(एक जोबन कहतीहुई निकली जातीहै)

"हे मधुकर! तज कमलकोश कहाँ भटकत डोलै।
अरुण करीलहि पेखि मंदमति भन भन बोलै॥
छिदहैं कंटक अंग पास याके मत जइयो।
गंधहीन यह फूल विरम इनमें मत रहियो॥

चल २ मधुकर वा सरवरहि जहाँ फूल रह्यो कमलबन ।
ए रे अज्ञान भयो बावरो हुवो करीलहि ते मगन ॥ ”

(चलीगई.)

सरो०— (नैपथ्यकी ओर)

दोहा—इन बागन फुल एकसे, नहीं परै पहिचान ।
कितै बसै वह मोतिया, कहु पंछी चतुर सुजान ॥

(नैपथ्यमें)

सो हम नहीं जानते ।

सरो०--वेश्याकी प्रकृति बेलके सदृश है, आम करील सबको एकसाही जान लिपट जाती है ।

वे०--और पुरुषकी भी तो यही गति हैं, कलीका रस खींचलिया और कृतघ्नी भौंरा फिर उसकी ओर दृष्टि भी नहीं करता नवीनको ढूँढता है । यदि आप अपयशसे डरतेहैं तो यहाँ देखनेवाला कोई नहीं ।

सरो०—नहीं नहीं पापकर्म छिपाये नहीं छिपता और अतिघर्षणसे विषही निकलताहै । अब आज्ञा दीजिये । (दोनों आगे चले.)

वे०- अच्छा साहब सब बादल स्वाति बूँद देना छोडदें । तो सीपी मुहँ खोलेहुवे प्यासीही मरजायँ (उठके भीतर चली गई.)

सरो०- कहो ! वह जो कुसुमपुर दूत भेजा था क्या समाचार लाया ?

वीर०--दूत तो अभी नहीं फिरा पिताजीसे मालूम हुवा कि हमारे महाराजका शीघ्रही कुसुमपुरीपर चढनेका विचारहै । ऐसा सुनागयाहै कि, विश्वसेनका राज्यपर अब कोई अधिकार नहीं अपने जामात्रको राज्य देदियाहै और स्वयम् मंत्रीकी भाँति रहताहै ।

सरो०—हां ! सो तो महाराजने मुझसेभी कह दियाहै, जानेमें तो अब देर नहींहै, मैभी जाऊंगा और तुमकोभी अवश्य लेचलूंगा ।

(दोनों नैपथ्यकी ओर चलेगये)

दृश्य ६.

(स्थान कुसुमपुरीमें रतनसेनका अंतःपुर)
(मनोरमा सेजपर लेटीहुई सरस्वती पास बैठीहै.)

स०— चौपाई ।

“ गत वसंत ग्रीषम ऋतु आई । वेल बिटप सब गये सुखाई ॥”
अति अनीत लखि ग्रीषमकेरी । वर्षा ऋतु आई अति नेरी ॥

(कवित्त) ।

चंद्रमुखी सेज पेख चंद्रमा अकाश चढ्यो, देख वे सजनी जाको रजनी उद्योत है ॥
रूपकों निहार सरमाय घन आड छिप्यो, उझक उझक कहै काहे हमैं खोत है ॥
मोहूते अधिक चंद्र दूसरो प्रगट भयो, अस कर रोस ओस आँसुनसों रोत है ॥
अहो ! चम्पावर्ण चपलासीरी चतुर नार, चाँदनी न पैाढो प्यारी चंद्र मंद होत है ॥

(नैपथ्यमें)

हे चातक ! यह बादल बरसनेवाले नहीं, क्यों पुकार २ कर प्राण खोताहै ।

(मालती कहतीहुई आतीहै.)

(कवित्त) ।

एहो ! चंद निठुरसों काहे हो गुमान भरे । तोसों मंजु मुख विश्वराजकी ललीका है ॥
थोडीसी प्रभुता पाय जातही अकाश चढे। मंडल निहार निज कलंकसों फीको है ॥
एरे ! होसमल ! का है निर्मलसखी सो तोहि। घूर घूर तकै भाल मृगमद टीको है ॥
जाय चल्यो जाय परै प्यारे ! न तेरीसी परी, रे रे ! चंद नाहिं बाय रत्नचंद नीकोहै ॥

(मनोरमासे) यह रजनीकी रम्य घटी क्या रंजमें बीतें ?

दोहा–मैं बरजी कैवार तुव, इत उत लेत करोट ।
पखुरी चुभैं गुलाबकी, परिहैं गात खरोट ॥

आली ! कुछ सोकर आराम करले ।

मनो०–अरी ! सोना कैसा सोना कहाँ ?

दोहा–"तन मन धन अर्पण कियो, जा प्रीतमके काज ।
निस्नेही कैसे भये; नेक न आई लाज ॥

मनुष्य सब कुछ सहलेताहै, परंतु अपमान नहीं सहाजाता ।

दोहा–"चतुर मनुज नहिं करत हैं, लोग दिखावन प्रीत ।
प्रथम मिलन पाछे दगा, कौन गामकी रीति ॥"

अरी तूही जाके मेरी ओरसे प्रार्थना कर लिखती तो पाती, परंतु छाती उमडी आतीहै । जबानीही मेरी कहानी कहनी कि, आपकी दासी विरहमें फाँसी लगानेको तैयारहै, यदि कुछ जबानीकी लाज है तो साज सँभारो ।

दोहा–"कागज भीजत नयन जल, कर कंपत मसि लेत ।
पापी विरहा मन बसत, विरह लिखन नहिं देत ॥
कर काँपत पतिया लिखत, जऊ भरि आवत नैन ॥
कोरो कागज हाथ दै, मुखही कहियो बैन ॥
लिखन पढनकी है नहीं, कही सुनी नहिं जात ।
अपने मनसों जानलें, मेरे मनकी बात ॥

चंदन चंद चकोर पिक, दादुर मोर समीर।
यह सब मम वैरी भये, कैसे बाँधू धीर॥

मा०-- दोहा।

"जदपि हेत सुन्दर कमल, उलटो तदपि सुभाव।
जो नित पूरण चंद्रसों, करत विरोध बनाव॥"

मनो०– सोरठा।

रे रे चंद कठोर, काहे रथ मंदो करो।
ताक न मेरी ओर, चले जाउ निज बाटमें॥"

स०--आली ! इतनी क्यों विह्वल होतीहो, तुम्हारे प्राणप्यारे कहीं परदेश नहीं चलेगये।

म०–बहिना जिसपर अपना अधिकार नहीं वह निकट वस्तुभी दूरके समानहै।

कुंडलिया।

ब्याह भयो तो काह भयो, रही बियोगन नार।
चंदन चंदा चाँदनी, सभी जरावन हार॥
सभी जरावनहार, मोहिं विरहा दुख दीनो।
खैंचत बान कमान, मदन मनसिज रँगभीनो॥
पी पी रही पुकार, हाय पीतम कहा कीनो।
अपनो दीनो नाहिं, मनहु मेरो हर लीनो॥

कहीं ओससे प्यास नहीं बुझती और कोरी मीठी २ बातोंसे कलेजा ठंडा नहीं होता। अमृतके समुद्रके निकट जाके भी प्यासी रहना इसीको तो भाग्य कहतेहैं।

दोहा–आशा लागी मिलनकी, मुदित भई मन माय।
प्यासीकी प्यासी रही, सुधासिंधु तट आय॥

(आँसू टपक पडे)

मा०–हे सुन्दरी ! क्यों अपने यौवनकी उमंगको आँसुओंकी बूँद बनाके बहारहीहै। लो देखो महाराज आतेहैं–सँभल बैठो।

(रतनसेनका प्रवेश.)

मनो०–(सेजसे उठकर) अहो भाग्य मेरे ! आइये महाराज ! इस दासीपै आज बडी कृपा की।

स०–(मनोरमासे) पिया सिधारे कुछ भेंट तो करौ।

मनो० प्राणप्यारेको देनेके लिये मनही होताहै, सो पहिलेही भेंट करचुकी।

रतनसे०–बैठोप्रिये ! एक गूढविषयमें आपसे कुछ कहनाहै–(मनोरमाको सेजपर बैठा आप अलग एक कुरसीपर बैठजाताहै.)

स०–(रतनसेनसे) महाराज !

दोहा–" यौवन रतन अमोलहै, मिलै न बारम्बार।
चारदिनाकी चाँदनी, फेर रैन अँधियार ॥ "

बिजलीकी दोनों प्रकारकी शक्ति भडकनेसेही मेल होसकताहै ।

रतनसे०–वह अवसरभी निकटहै ।

मा०–(हौले सरोजनीसे) चलो बाहर ।

(दोनों जाना चाहतीहैं.)

रतनसेन–नहीं ! तुम अभी यहां ठहरो ।

(दोनों बैठगईं.)

मनो०–प्राणनाथ ! क्या आपकी प्रतिज्ञा मेरे प्राणही लेकर पूर्ण होगी ?

रतनसे०–नहीं प्रिये ! घबडाना नहीं चाहिये केवल आजकाही दिवस छै मासमें शेष रहाहै ।

मनो०–"राजीहैं, हम उसीमें जो रजाहै, आपके छै मास तो छै बरससमान बीत-गये, परंतु यह एक रात्रि एक युग होजायगी ।

रतनसे०–कृपाकरके आज इन बातोंको और रहनेदो और मैं कहताहूं सो सुनों !

मनो०–महाराज ! आज्ञा करैं मैं सावधानहूं ।

रतनसे०–कदाचित् आपको विदित हो अथवा न हो कि, एक प्रबल शत्रुने हमारे नगरपर आक्रमण कियाहै ।

मनो०–प्राणनाथ ! फिर क्या करना ?

रतनसे०–मुझे अपना कुछ शोच नहीं यह प्राण एक दिवस जानेहीकोहैं परंतु आप—

मनो०–मेरा आप कुछ शोच न करैं ।—

पिया वियोग सहूं नहिं कबहूँ । लाय जहर विष खाऊंगी ।
जो मोहि नाथ साथ ना लेवो । तो सँग प्राण पठाऊंगी ॥

रतनसे०–धन्यहो ! प्रिये ! धन्यहो ! बीरोंकी स्त्रियोंका यही धर्महै, हमारी इतनी तो सामर्थ्य नहीं कि, उनसे युद्ध करैं और युद्ध करनेमें वृथा निरपराधी जीवोंकी हानि होगी, मिश्री खिलानेसेही काम निकल आवै तो विष क्यों दियाजाय ? वीर जितने नम्रतासे वश होतेहैं उतने क्रोधसे नहीं ।

मनो०–तो फिर आप क्या विचारतेहैं ?

रतनसे०–यही कि, सम्मिलन करलिया जाय ।

मनो०–क्या इस बातका भरोसाहै कि, वे देश न लेकर ऐसा करैंगे ?

रतनसे०—हां, मैं भरोसा करताहूं। क्योंकि सूर्यकांति एक बडा सज्जन पुरुषहै।

मनो०—महाराज ! मैं अबलाहूं ऐसी गम्भीर राजकाजकी बातोंमें क्या सम्मति देसकतीहूं ? उचित हो सो कीजिये ! यह प्राण रहो चाहे जाँय क्षती न होनी चाहिये।

रतनसे०—नहीं प्यारीजी ! ऐसी कोई सम्भावना नहींहै।

मनो०—यदि आपने विचारलियाहै तो ठीकहै, नम्रताभी पराक्रमका भूषण है।

रतनसे०—अच्छा तो मेरा विचार कल अकेलेही उनके कटकमें जानेकाहै आपके पिता यदि चले तो केवल उनको साथ लेजाऊंगा।

मनो०—(घबडाके) नहीं महाराज ! नहीं आप कदापि ऐसा न करैं। यदि वे कैसेहीहैं, परंतु हैं फिरभी शत्रू यह नीतिविरुद्धहै।

रतनसे०—मुझे जब युद्ध करनाहीनहीं तो क्यों किसीको साथलूं।

मनो०—यदि उन्होंने आपके साथ कोई दगा किया ?

रतनसे०—वीरपुरुष ऐसा नहींकरते,—जो करतेहैं स्पष्टरूपसे करतेहैं।

मनो०—महाराज ! मैं हाथ जोडके सविनय प्रार्थना करतीहूं कि, आप अकेले शत्रुके कटकमें नजाँय।

रतनसे०—आप कोई शंका न करैं।

मनो०—मैं क्यों न शंका करूं ? यदि आप किसीको साथ न लैंगे तो मैंही अवश्य चलूंगी।

रतनसे०(हँसके) वाह ! आप क्या करैंगी ? (स्वयम्) यह तो मेरी इच्छाहीहै।

मनो०—दैव ऐआ समय न करै, जहाँतक होसकैगा, आपका साथ स्वर्गतक भी न छोडूंगी। (स्वयम्) चाहे और किसीको ये साथ न लैं, मैंतो अवश्य जाऊंगी यहाँ रहकेभी क्या करूंगी ?

रतनसे०—स्त्रियोंका वहाँ काम नहींहै।

मनो०—यदि मैं और मेरी सहेली पुरुषवेष धारण करलैं तब तो कोई हानि नहीं ?

रतनसे०—(स्वयम्) जिसलिये आयाथा वह काम तो बना (प्रगट) वहां जानेमें कुछ भयतो हैही नहीं, यदि ऐसेही तुम्हारी इच्छाहै तो चलना और सैर देखना।

मनो०—महाराज ! चाहे आप निषेधभी करैं मैं नहीं मानूंगी। और आप साथहैं तो मुझे भयही काहेका ?

रत्नसे०—अच्छा प्रिये ! अब मैं जाताहूं, चंद्रकिरण शीतल होजातीहैं, आपभी आराम करैं।

मनो०—परंतु मेरे ऊपर तो दावानल बरसाती हैं।

रतनसे०—केवल आजही और (जाताहै.)

मा०—तथास्तु ! (सब चलेगये)

(जवनिकागिरतीहै)

अंक–५.

दृश्य–१.

(स्थान कुसुमपुरीके निकट सूर्यकांतिके डेरे)

(महाराज सूर्यकांत सिंहासनपर विराजेहुवे, सरोजकुमार, सरलसिंह, वीरसेन, शूरसेन. धर्मदेव सब अपने २ स्थानोंपर बैठे दरबार लगरहाहै, जयदेव खडाहै.)

सू०–जयदेव ! कहो राजासाहबने किससमय आनेको कहाहै ? क्या यह सत्यहै कि, वे स्वयम् पधारैंगे ?

ज०–(हाथ जोडकर) श्रीमहाराज ! "सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं पुनः पुनः । सत्यं सत्यं पुनः सत्यं त्रिवाचा कथयाम्यहम्" बस यही समयहै,आयाहीचाहतेहैं।

शू०–महाराज ! मैंने सब सेनाको आज्ञादीहै कि, अपने २ डेरोंमें तैयार रहैं । शंखध्वनि होतेही एकदम यहाँ आवैं ।

सू०–शूरसेन ! तुम युद्धविद्यामें बडे निपुणहो ।

ध०–प्रथम शत्रुका आगमन देखलीजिये, यदि वे कुछ कटक सहित आतेहैं तो अपनी सेनाकोभी उपस्थित करलेंगे ।

शू०–हाँ, इसकी जाँचके निमित्त मैंने दूर २ तक दूत लगादियेहैं ।

सू०–दीवानजी ! वे दोनों वृद्ध स्त्री पुरुष कहाँहैं ?

स०–महाराज ! इसीडेरेके दूसरे दर्जेमें ।

(विदूषक लाठी टेकता आताहै.)

विदू०–अहा ! आज तो यहाँ बडी तैयारीहै, महाराज ! हाथ खाली नहींहै, इसलिये वचनसेही आशीर्वाद देताहूं क्या आज यह सब सजधज हमारीही स्वागतके लिये बनाई गईहै ?

सू०–(मुसकुराके) हां ! विदूषकजी ! आपहीके लिये, यदि कोई सज्जनका यथायोग्य सन्मान न करै तो उसकी तो सज्जनता जाती नहीं किन्तु अनादर करनेवालेहीकी दुर्जनता प्रगट होतीहै ।

विदू०–अजी ! हम तो एकबेर अपनी सुसराल गयेथे, वहाँ किसीने पूँछाभी नहीं, अपनासा मुँह लेकर चलेआये । (सेनापतिसे) शूरसेनजी ! (बैठकर) हमारे योग्य कोई काम हो तो बताईये न ?

शू०–जो कार्य आप पसंद करैं ।

विदू०–जब शत्रु महाराजसे मिलने आवैं तो हम सिंहासनके नीचे जा बैठैं–कहो यह ठीकहै न ?

शू०–यहां आप क्या करेंगे ?

विदू०–अपनी रक्षा–और आपकीभी ।

स०–अजी आप यहांही बिराजे रहें शत्रू आपकी सूरतसेही डरजायगा ।

विदू०–यदि उन्होंने कभी बूढे बंदरको न देखा हो तो कदाचित् डरभी जाँय ।

(द्वारपालका प्रवेश)

द्वा०–श्रीमहाराजका जयहो ! द्वारकी ओर पाँच सवार साधारणसे वस्त्र धारण करे, बिना हथियार चले आतेहैं । एक उनमें कुछ वृद्ध और चार सर्वप्रकारसे युवा जान पडतेहैं । धरणीधरदत्त दूतने आके सूचना दीहै और कहताहै कि, उन्हींमें कुसुमपुरीके महाराजभीहैं जो सबसे आगे आरहेहैं ।

सू०–(आश्चर्यसे) ऐसे भारी कटकमें ! केवल चार मनुष्य साथ बडे बीरहैं (द्वारपालसे) अच्छा आदरपूर्वक लिवालाओ ।

द्वा०–जो आज्ञा महाराज ! (जाताहै)

विदू०–अब तो मेरी सहायताकी महाराजको आवश्यकता नहींहै ?

सू०–(मुसकुराके) हां ! विदूषकजी ! न तब थी न अब है । आपकी कृपाहीसे सर्व कार्य सिद्ध होजायगा ।

(महाराज रतनसेनका अपने चारों साथियोंसहित प्रवेश--सूर्यकांति और सब दरबारी उठ खडेहुवे)

सू०–(कुछ आगे बढके) स्वगतम् मित्र ! बडी कृपा करी, कुशलपूर्वक तो हैं ?

रतनसे०–(प्रणाम करके) आपकी कृपासे आपके दर्शन पाये ।

सू०–चलिये सिंहासनपर बिराजिये ।

रतनसे०–नहीं महाराज ! मैं इस योग्य नहींहूं आपके पुत्रसमानहूं लो यहां बैठताहूं सरोजकुमारकी बराबर नीचेकी ओर बैठजाताहै ।

सू०–फिर तो मुझे भी नीचेही बैठना चाहियें । जयदेव ! सिंहासन हटालो (नीचे बैठगया और सब दरबारी अपने २ स्थानोंपर बैठजातेहैं)

सरो०–(स्वयम्) क्याही सुन्दर जवान है अहा ऐसा जी चाहताहै कि यह मेरे पासही बैठारहै !

रतनसे०–(सूर्यकांतिसे) मुझ दासपर कृपा करनेका क्या कारण है ?

सू०–यदि आपको विदित हो कि, थोडेकाल पहिले चंद्रपुरमें महाराज चंद्रकीर्ति राज्य करतेथे और इस देशमें आपके श्वशुर विश्वसेन ।

रतनसे०–हां ! मित्रवर ! मैं जानताहूं फिर ?

सू०—विश्वसेन यदि वृद्ध होचुके थे परंतु राज्यमदमें उन्होंने चंद्रकीर्तिकी पुत्री रत्नकुमारीको लेना चाहा—विचारे चंद्रकीर्तिका राज्य बहुत छोटा था, उसपर आक्रमण करके राज्य छीनलिया और दोनों स्त्री पुरुषको बंदीगृहमें डालदिया।

रतनसे०—मैंने तो ऐसे सुनाहै कि, वह कन्या फिरभी उनके हाथ न लगी।

सू०—हां! ऐसाही हुवा उस कन्याका गांधर्व विवाह मेरे पुत्रसे जो आपकी बराबर बैठाहै होचुका था। अजी अग्नि सबको जलातीहै परंतु पानीमें जाकर तो आपही ठंडी होजातीहै। परंतु विश्वसेनकी गति तो इसके विपरीतही थी, उनकी खोटी इच्छा वृद्धावस्थामेंभी न्यून नहीं हुई थी।

रतनसेन—परंतु उस लडकीका सौंदर्य तो कुछ ऐसा विशेष नहीं सुनाजाता।

सरोज०-(स्वयम्) हा! कोई उसका सौन्दर्य मुझसे पूछे।

सू०—सौंदर्यमें तो वह कन्या अद्वितीयही थी।

रतनसे०—वे स्त्री पुरुष अब तो हमारे बंदीगृहमें नहींहैं?

सू०—हां! बिचारे आपत्तिके मारे वहांसे किसीप्रकार छुटकारा पा मेरे पास आ जा पहुंचे और अब मेरेही पास हैं परंतु हा! शोक उस अबलाका अभीतक कहीं पता- नहीं लगा।

रतनसे०—यदि कुछ हानि न हो तो मैं उन वृद्धोंका दर्शन करना चाहताहूं।

(सूर्यकांतके संकेत करनेपर वे दोनों एक परदेकी आडसे निकल आये)

रतनसेन—(उठकर) प्रणाम महाराज! आपके दर्शनसे मैं अपनेको धन्य मानताहूं (सब बैठगये—हाथ जोडकर) और प्रार्थना करताहूं कि जो कुछ महाराज विश्वसेनने आपके साथ किया आप उसको शुद्धअंतःकरणसे क्षमा करें।

चंद्र०—बेटा! आपको देखकर मैं बडा प्रसन्नहूं धन्यहो यह अवस्था आपकी और यह विलक्षण बुद्धि मैं स्वयम् अब न क्षमा करने योग्य हूं न बदला लेनेके (सूर्यकांतकी ओर संकेत करके) आपकी शरणमें हूं।

सू०—(चंद्रकीर्तिसे) हे मित्रवर! मित्रताका सदैव अच्छा फल होताहै।

रतनसेन—(चंद्रकीर्तिसे) महाराज! आप कुछ अपनी प्यारी पुत्रीको निहार बतावें तो यथाशक्ति खोज कराई जाय।

चंद्र०—(आंखोंमें आँसू भरके) बेटा! क्या उनिहार बताऊं बेटीकी उनिहार आपसे बहुत मिलतीहै।

सरो०—(स्वयम्) थी तो ठीक ऐसीही सरत।

रतनसे०—महाराज! कुछ शोच न करिये यदि वह अबला कहीं है तो शीघ्र आपसे मिलादूंगा।

चंपा०—(आँसू भरके) हाय! प्यारी बेटी! बेटीको कहां पाऊं?

रतनसे०—माताजी ! आप चिन्ता न करें, आशाहै कि आपकी सुता जलदी मिल-जायगी (चंद्रकीर्तिसे) महाराज ! मेरी प्रार्थनाका कुछ उत्तर न दिया।

चंद्र०—बेटा ! तुम्हारी बाणी बडी मीठीहै और मैं उसका अपमान करनेको समर्थ नहीं, किया क्षमा किया मैंने अंतःकरणसे विश्वसेनको क्षमा किया।

विश्व०—(जो रतनसेनके संगहीथा चंद्रकीर्तिके पैरोंपर गिरकर) महाराज ! धन्य हो ! आपका अपराधी दुष्ट विश्वसेन मैंही हूं।

चंद्र०—(विश्वसेनको उठाताहुवा) हे मित्र ! हे मित्रवर ! उठो २ आपका कोई दूषण नहीं सुखदुःख कर्मानुसार होतेहैं।

रतनसे०—(चंद्रकीर्तिसे) चंद्रपुरका राज्य आपके बिना शून्य पडाहै और वहांकी प्रजा आपकेलिये व्याकुल होरही है। अपना राज्य लीजिये और प्रजाको सुख दीजिये।

चम्पा०—बेटा ! तुम धन्यहो, परंतु जबतक प्यारी रत्नकुमारीका पता न लगे राज्य हमारे लिये श्मशानभूमिके सदृश है।

रतनसे०—यदि दैव अनुकूलहै तो वेभी आ मिलैंगी कुछ वृत्तान्त आपकी पुत्रीका एक मित्रद्वारा मुझको विदित हुवा था—परंतु कह नहीं सकता।

चंद्र०—महाराज ! यदि आप कहैं तो बडा अनुग्रह करैंगे वह है तो इस संसारमें ?

रतनसे०—सो तो मैं अभी ठीक नहीं कह सकता अनुमानसे तो कुछ ऐसाही विदित होताहै।

सब—कहिये ! महाराज कहिये हम सबको बडी आकांक्षाहै ध्यानपूर्वक सुनते हैं—कृपा कीजिये कहिये।

रतनसे०—हाय ! आप हठ करतेहैं, मुझे कहदेनेमें कोई शंका नहीं परंतु किसका दिल लाऊं जो उस कहानीको दुहराऊं--" कहूं तो कहा नहीं जाता। हाय ! चुपभी रहा नहीं जाता ॥" यदि आप नहीं मानते तो पत्थरका हिया करके कहताहूं सुनिये। मैंने अपने एक मित्रसे सुनाहै कि, जब विश्वसेनने अकस्मात् चंद्रपुरीपर आक्रमण करके वहांके राजा और रानीको पकड लिया उस समय रत्नकुमारी नदीके तटपर एक बाटिकामें अपनी सहेलियोंके संग झूला झूलरहीथी इससे पहिले किसी अन्यदेशके राज-पुत्रके साथ उसका गांधर्व विवाह होचुकाथा और वेभी किसी प्रकार उससमय वहाँ उपस्थितथे इन दोनोंका कुछ प्रीतमय सम्भाषण होहीरहा था कि, अकस्मात् शत्रु बागमें घुस आये वे राजपुत्र उनके रोकनेकेलिये द्वारकी ओर झपटे--परंतु हा ! शोक शत्रुकी सेना विशेषथी वेभी पकडे गये (सरोजकुमारकी ओर संकेत करके) आप जानतेही होंगे।

सरो०—(शिर नीचा करके) हुवा तो ऐसाही।

सू०—उन स्त्रियोंका क्या हुवा ?

रतनसेन०—दो सहेलियोंका तो पता नहीं परंतु रत्नकुमारी एक सहेलीको साथ ले सुरंगकी राहसे निकलगई। (दो युवा पुरुष जो रतनसेनके साथ आयेथे एक दूसरेकी ओर देखकर चुप होरहे)।

चंद्र०—फिर क्या हुवा ?

रतनसे०—हा शोक! आगेका वृत्तान्त कहतेहुए कलेजा विदीर्ण होताहै। जिस समय मेरे मित्रने यह वृत्तान्त सुनाया मैं अश्रुपातको न रोकसका।

चंद्र०—कहिये महाराज कहिये ! हम अपनी छातीपर पत्थर धरे हृदयविदारक समाचारके सुननेको तैयारहैं।

रतनसे०—क्या कहूं, उस विचारीकी विपद कहतेहुए कंठ रुकताहै। वहांसे उन बिचारियोंको डाकू पकड लेगये और फिर दोनों बिछुड गईं।

जयदेव—महाराज ! एक तो कुछदिन चेलाके भेषमें मेरे पास रही—

रतनसे०—वह उसकी सखी होगी। वे डाकू सबके सब रत्नकुमारीकी इज्जत बिगाडनेपर उतारू होगये। हा ! विपदग्रस्त क्या क्या नहीं कर गुजरता ? बिचारीने चतुराईसे उनको आपसमें लडाके कूपमें प्रवेश किया।

चम्पा०—(घबडाकर) क्या कूपमें गिरपडी ?

रतनसे०—माताजी ! मैं आपसे कहचुका आप घबडाओ मत, आद्योपांत सब वृत्तान्त सुनलीजिये मेरा कथन वैसाही सत्यहै, जैसा सूरजका पूर्वमें उगना और पश्चिममें छिपना। वहाँ किसी राजाके दीवानका पुत्र जा निकला और उसे कूपमेंसे निकाल बहनकी सदृश रखनेका प्रणकर घरले आया। हा ! शोक ! यदि उस विचारी सीधीसाधी और भोलीभाली बालिकाको यह विदित होता कि, यह अधर्मी बन जायगा तो वह वहाँही अपने प्राण तजदेती परन्तु उस दुष्टके संग न जाती। थोडे दिवस तो उसने वैसाही निभाया कि, जैसा प्रण किया था। पश्चात् बलात्कार उस विचारीसे विवाह करनेको ठानदी। अनाथ युवतीपर हरकोई अत्याचार करनेको उतारू होताहै, परंतु मनुष्यपर ज्यों २ दुःख पडतेहैं उसका कलेजा कठोर होताजाहै।

बीर०—(स्वयम्—कुछ घबडाहटसे) हैं ? यह क्या ? कहरहेहै ! क्या मेरीही बावली रत्नकुमारीहै ?

रतनसे०—परंतु दैव उसके शीलकी रक्षापर थां, दैवयोगसे वही उसकी सहेली पुरुषभेषमें आई और दीवानके यहां विवाहके प्रबंधपर नियत हुई और अपनी सहेलीसे मिलकर आप वहाँ रही और रत्नकुमारीको अपने वस्त्र पहिनाकर निकालदिया।

वीर०–(स्वयम्) हाय ! मैंने बडा धोका खाया उस प्रबंधक पुरुषका अकस्मात् अंतर्धान होजाना यही बात थी "त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः" ॥

सूर्य०–मित्रवर ! अब वह कन्या कहाँहै ?

रतनसे०–इस बातका उत्तर देनेसे पहिले (अपनेही साथके एक युवकसे) मैं आपसे पूँछना चाहताहूं कि यदि आप आज्ञा दें तो कहूँ और जो कुछ मैं कहूँगा वह आप क्षमा करें ।

युवक–(चकित होकर) आप कहें ! (स्वयम्) यह बात उन्होंने मुझसे क्यों कही इसमें क्या रहस्यहै ? जो कुछभी हो अब मालूम हुवाही जाताहै ।

रतनसे०–विशेष वृत्तान्त मैं नहीं जानता केवल इतना सुनाहै कि, रत्नकुमारी अभी पुरुषभेषमेंही किसी उच्चपदहै–और अपने माता पिता और प्राणवल्लभसे शीघ्र मिलेगी, वो तो सदा धर्मकी जय और पापकी क्षय ! सब—जय, जय, जय !

चंद्रकीर्ति और चम्पा०–महाराज ! कब और कहाँ ?

रतनसे०–अभी और इसी स्थानपर (झट पुरुषभेष ऊपरसे फेंककर रत्नकुमारी होगई)

वह तात मातको दुख देनेहारी मैंही तो हूं ।
प्राणपतीका सुख लेनहारी मैंही तो हूं ॥

(आँसू टपक पडे और दौडके माता पिताके चरणोंमें शिर धरदिया)

सब–धन्यहै ! धन्यहै !! धन्यहै !!! रत्नकुमारी ! तुम्हारे सत्य और साहसको । चिंतासे दूषित मन सत्यसेही शांति पाताहै ।

चंद्र० और चम्पा०–(उठातीहुई) बेटी अब हमारी आत्मा शीतल हुई !

एक युवक जो कृत्रिम रतनसेनके साथ था–(चीखमारकर) हाय ! छल ! छल ! कपट ! कपट ! मेरा सर्वनाश हुवा । मैं (अनाथ मारी गई)–

रत्नकुमारी–(दौडकर युवकको जो पुरुषभेषमें मनोरमाथी सँभालतीहुई) बहन सावधान ! क्षमा करो ! क्षमा करो ! मैंने तुमको बडा धोका दियाहै क्षमा करो–निराश मतहो । मुझसेभी अधिक सुन्दर कुँवरजो आपका पाणिग्रहण करेंगे–और मैं इन सर्व सज्जनोंके रूबरू प्रतिज्ञा करतीहूं कि, आपकी बहन होकर रहूंगी (चंद्रकीर्तिसे) पिताजी मुझे क्या आज्ञाहै ?

चंद्र०–बेटी ! मैं तुम्हारा अपराधीहूं (सरोजकुमारसे) और आपकाभी पहिले हमको क्षमा करो ।

रतनकु०–व सरो०–पिताजी ! आपका कोई अपराध नहीं, आपसे जो हुवा स धोकेसे हुआ (लज्जित होके) अब जो आज्ञा ?

चंद्र० और चम्पा०–बेटाओ प्रसन्न रहो और तुम्हारा सत्य स्नेह चिरस्थाई हो ?

रत०–अब अपराध क्षमा कराके (सरोजकुमारसे) आपसे निवेदन करताहूं कि, यदि आप सच्चे मनसे मुझे चाहतेहैं तो प्रथम (मनोरमाकी ओर संकेत करके) इनको ग्रहण कीजिये और पीछे मुझको और प्रण दीजिये कि, मुझसेभी अधिक सच्ची प्रीति इन पर रहैगी। आशाहै कि (सूर्यकांतिकी ओर) महाराजभी आज्ञा देंगे।

सू०–("धर्मफलमिष्टं" देवने आज हमारे सब संताप दूर करके आनन्द किया, इसलिये मैं भी प्रसन्नता पूर्वक आज्ञा देताहूं (सरोजसे) पुत्र ! स्वीकार करो।

सरो०–पिताजी ! आपकी आज्ञा शिर माथे।

रतन०–(मनोरमासे) बहन ! अब यह पोशाक आपको नहीं सोहती।

मनो०–जो आज्ञा बहन (ऊपरसे मरदाने वस्त्र उतारदिये)

दूसरे दो युवक–(रत्नकुमारीसे) आश्चर्य है न आपने हमको न हमने आपको पहिचाना। हम आपकी सहेली कुसुमवती और रूपदेवीहैं, विश्वसेनजीके आदमी हमको यहाँ लेआये (पुरुषभेष उतारदिया)

रतन०–(दोनोंको गरे लगाकर) तुमने तो अपना नाम और बाना सबही बदल लिया- तुम बहनकी सेवा मेंही रहो।

विश्व०–आप सबका अपराधी महादुष्ट पापी मैंहूं (हाथ जोडके) यदि आप सब शुद्ध अंत:करणसे मेरे अपराधोंको क्षमा करदें तो मैं अपने मनको शांति करके दूसरे जन्मके लिये कुछ सफलता प्राप्त करूं।

चंद्र०–महाराज !

दोहा–"को काको दुख देतहै, देत कर्म झकझोर।
उरझै सुरझै आपही, ध्वजा पवनके जोर ॥
"यथा करोति कर्माणि तथैव फलमश्नुते"

चौपाई।

"कर्मगती नहिं रखिहै राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा" ॥

छोटासा राहू जिसका मस्तकमात्रही रहगयाहै, चंद्र और सूर्यको भी ग्रस लेताहै। कर्मकी विलक्षण और धर्मकी सूक्ष्म गति है यदि आप मेरा मन पहिले शांति करैंगे तो मैं आपकी आज्ञाका पालन करनेको तैयारहूं।

विश्व०–आप आज्ञा करैं-आपकी सेवासे अपनेको धन्य मानूंगा।

चंद्र०–यही कि, आप अपना राज्यसिंहासन ग्रहण करैं।

सू०–हां ! हां ! बहुत अच्छी सम्मति है, अतिउत्तमहै (विश्वसेनसे) महाराज स्वीकार करैं।

विश्व०-वाह ! वाह ! महाराज ! मैने अपनी बुराइयोंको नहीं छोडा तो आप अपनी भलाईयोंको क्यों छोडनेलगे ? अपराध क्षमाहो, जामात्रको दीहुई वस्तु फिर नहीं लीजाती, न मैं अब इस योग्य और न मेरी इच्छाहै । इस असार संसारसे विरक्त होके परमार्थ साधना चाहताहूं परंतु हा शोक ! मैं तो ऐसा अधम अपराधीहूं मेरी मुक्ति कैसे होगी ? पत्थरकी नावपर बैठ कोई नदी नहीं उतर सकता । यदि स्त्रियां बीचमें बाधक न होतीं तो संसारसे पार होजाना दुस्तर नथा-

सरल०-महाराज ! राज्यकी बराबर कोई तपस्या नहीं, यदि शुद्ध अंतःकरणसे परोपकार समझके राज्य किया जाय तो अपना, अपने कुटुम्बका और प्रजाका अनेक जीवोंका कल्याण होताहै । संसारको छोडकर आप अपनाही भला करसकैंगे और यहां सहस्रोंका ।

विदू०-यदि आप हमारी मानें तब कभी मुक्तिकी ओर मुखभी मत करना । वहां क्याहै ? पत्थरकी तरह पडेरहो न बागहै न बगीचाहै, नाचहै, न रंगहै, खानाहै न पीनाहै, गानाहै न बजानाहै, भंगहै न शराबहै, घरहै न मकानहै, हाटहै न दूकानहै, राजहै न पाटहै, स्वयम् सपाटहै, स्त्रीहै न बच्चेहैं, मित्रहैं न कलत्रहैं, गद्दीहै न तकियाहै, नौकर हैं न चाकरहैं, लडाईहै न झगडाहै, रूपहै न गन्धहै, देहहै न गेहहै, बातहै न चीतहै, लड्डूहैं न बरफीहैं, अचारहै न बिचारहै । भला ऐसी जगह जाके आप क्या करैंगे ? मैं जब सौ कम पाँच वर्ष का था तो वहाँ अपनी नानीसे मिलने गया, सो वहाँ नानी मिली न पानी योंहीं खाक छानी और मुश्किलसे दो चारोंको जो मार्गमें मिलगये अनर्थ दण्ड देदिया अपने महलको आया । अजी ! यदि आप वहाँ पहुँचगये तो संसारके दर्शनोंको तरसाही करौगे-"पंच कहैं सो कीजै काजा । हारे जीते आवै न लाजा ॥"

विश्व०-सत्यहै, आपका कहना ! वह ऐसा शांतिमय स्थानहै तभी तो मैं उसकी इच्छा करताहूं । अब मेरी अंतस्संज्ञा कुछ शुद्ध जान पडतीहै और वहाँही जाना चाहताहूं, जहाँ मनुष्य नहीं कोलाहल नहीं और जहाँ यह पापी संसारभी नहीं और तो क्या केवल शांत स्वरूप जीवात्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं । परंतु हाय !

दोहा-"सुधि आई घर खोयके, अब सोचे कहा होय ।
जो कुछ लिखा लिलाटमें, मेट सकै नाहिं कोय ॥"

कहीं पत्थरमें अंकुर नहीं फूटते हे राजन् ! समय किसीकेलिये स्थिर नहीं रहता? वह सदैव चलाही जाताहै बहुत खोकर जो थोडासा समय मेरे पल्लेमें रहाहै उसे वृथा नहीं खोना चाहता ! परंतु हा शोक ! कलंकके भारसे मेरी शेष आयुकी राह कैसे कटैगी?

शैर ।

विदू०

"हमेशा बदलताहै ऐसा जमाना । कि है आज इसका कल उसका जमाना ॥
दिखाताहै नौरंग क्या क्या जमाना । बहुत याद आताहै पिछला जमाना ॥

कभी हमभी कुछ थे !

विश्व०–अब मेरा कुटुम्ब परिवार जो कुछहै यह देहहै–इसे अच्छे कार्यमें लगाना चाहताहूं कहतेहैं कि, साधनसे सिद्ध होताहै ।

सब–यदि आपका अंतःकरण शुद्धहै तो हमभी बाधक नहीं होते । "सबेरेका गया सांझको आजाय तो उसे भूला नहीं कहते" धन्यहो ! धन्यहो !

सू०–(सरोजकुमारसे) अच्छा बेटा ! इनकी ऐसी इच्छाहै तो हर्षपूर्वक न्याय-के साथ राज्य करो और अपनी दोनों पटरानियोंसहित आनन्द भोगो । अब विलम्ब बहुत हुवा कल मैं वहाँही आके तुमसे कुछ और कहनाहै सो कहूंगा । आजही पाणि-ग्रहणकी विधिभी करादीजाय ।

(सब उठ खडेहुवे)

बीर०–(हौले सरोजकुमारसे) मित्र ! मेरा अपराध और क्षमा करदीजिये ।

सरो०–अनजाने दोष नहीं होता, परंतु तुमने जौहरी होकर काचको हीरेकी जगह कैसे लेलिया ?

बीर०–(नीची गरदन करके चुप)

(सबजातेहैं.)

दृश्य–२.

(स्थान कुसुमपुरमें रत्नकुमारीका भवन)

(रत्नकुमारीका प्रवेश)

रत्न०–"सूर्य अपनी अधिक यात्राके श्रमसे परिश्रांत हो रात्रियापनकेलिये अस्ता-चलके ऊपर शयनमंदिरमें पधारे–उनकी हृदयहारिणी सरोजनी प्राणपतिके वियोगमें अतिशय कातरहो दिननाथके नैश वियोगको न सहसकी, इसने एकबार उत्तान मुख-करके अरुणकटाक्ष किया पर प्राणप्यारे न फिरे यह देखकर वह मान और लज्जासे संकुचित होगई ! इधर कुमुदिनी दिनभरके वियोगमें महामलिन होरहीथी सो निशाप-तिके आगमनकी बात सुन हर्षसे प्रफुल्लित होगई" ।

दोहा--हे सजनी ! रजनी प्रिये, लागत मोय बहोर ।
जबलों उगै न चंद्रमा, सजन मिलैं नहिं मोर ॥

राग श्यामकल्याण ।

अरी ! बेकल भई सजनी, निगोडा चंद्र नहीं उगता ।
पियाका दर्श देखनको, यह सूरजभी नहीं छिपता ॥
सजनके आगमनका जब, संदेशा मैंने पायाहै ।
लगी आशा मिलनकीहै, यह मन धीरज नहीं धरता ॥
घटी, पल होगये अब तो, दिवाकर बैर बाँधाहै ।
अरी समझा कोई इसको, यह टालाभी नहीं टलता ॥

(एक जोगन हाथमें तमूरालिये गातीहुई आतीहै.)

रागसोहनी ।

माँग मोतीसों पिरोलो, पी मिलनकी रात है ।
अपना रूप अनूप सजलो, यह मदनकी रातहै ॥
पहरौ गलमाला रतन, ओढौ दुपट्टा सन्दली ।
जिसपै तुम जोगन बनी, उसके मिलनकी रात है ॥

हे सजनी ! यह बात नहीं है, पूर्णमासीका चंद्रमा तुम्हारे मुखसे लज्जित हो, कहीं जा छिपाहै क्योंकि इस सुन्दर मुखके सन्मुख उसकी आवश्यकता नहीं रही, कदाचित् न निकलै ।

देखकर आपकी सूरत यह गोरी गोरी ।
चांद बादलमें छिपा जाताहै चोरी चोरी ॥

वाहजी ! वाह ! खूब बनीहो !

दोहा–"तन भूषण अंजन दृगन, पगन महावर रंग ।
आली अलबेली बनी, पियके सोवन संग ॥"

रत्न०–(दौडकर जोगनको गले लगातीहुई) अरी प्यारी शृंगारवती ! तू भली आई । यह क्या भेष बनायाहै ?

शृं०–" कोऊ आज आँनँदमें डोलै ।
कर सोलह शृंगार छबीली, रूप आरसी में तोलै ।
मदमाती पिय बाट निहारत बोले होलै होलै ॥"

समागमसे पहिलेकी जो चंदघटिकायें आशामें बीतती हैं, वह बडेही आनन्दका समय है ।

रत्न०–अब कबतक बके जायगी ?

शृं०–जबतक हमारी खुसी ।

(नैपथ्यमें)

रागसोहनी ।

कर नेह नैन लगायके (सरोजकुमारका गातेहुवे प्रवेश) फिर मान करना किन बदा।
दिलो जान हमसे छीनकर बेजार करना किन बदा ॥
गोरे मुखसे चंद्रलजता गंधकौं गुंजत अली ।
चम्पई रंग उठता जोबन और दुपट्टा संदली ॥
बहुत दिन आशामें बीते बिन मिले नहिं चैनहै ।
दिल तडपता तुम बिना कटती नहीं प्यारी रैनहै ॥

रागबिलावल ।

रत्न०—
देखी आज बडे भागन हमारे ।
इत सोभन समाज महाराज मेरे आए री ॥
आप गये प्राणप्यारे जान अब देहों नाहिं ।
उमडत सरोज मान मोद मन छाए री ॥
लाओ लाओरी सखी सेज फूलन सजाय देव ।
काम केलि करन देव पिय मेरे मन भाए री ॥
आओ आओजी सजन ! प्यारे गरवा लगाय लओ ।
बरसन निहारत बाट आज हमें पाए री ॥

सरो०—(ऊपरको निहारताहुवा) हैं ! कहाँ गया ?
रत्न०—(क्यां गया ? कहांसे गया ?
सरो०—आकाशमेंसे चंद्रमा ।
रत्न०—अजी ! वह कहाँ जायगा ?
सरो०कदाचित् कामका रस लेने चंद्रमुखी बन मेरे सन्मुख आगया हो।

कुटिल लटा लटकी मुख ऊपर ।
भौंहैं कमान समान तनीं ॥
भाल विशाल कमलदल लोचन ।
तापर कजरा रेख अनीं ॥
" कुचनमें अमृत कहांते आयो ।
रूप लैनकौं गई चंदढिग वहांते सुधा चुरायो ॥
जो कछु त्रुटि रही वाहते मनसिज मदन दुरायो ॥ "

दोहा—रूपभरी रसरँग भरी, कामकला परवीन ।
विद्या शील रु चातुरी, प्यारी प्रिया नवीन ॥

चौपाई ।

"सहज सुगंध साँवरी अलकैं । बिना फुलेल उलेलसी झलकैं ॥
जब कोउ या तन तनक निहारै । ताकों निधरक पँचशर मारै ॥"

कवित्त ।

जाय दुरे कानन मृगलोचन विशाल देख, अधरनकी लाली पेख लालहू विलाय गये ॥
साल कियो हृदय बीच पंक्ति देख मुक्तनने, दाडिम कलेजा चीर झुकि भूमिलों आगये॥
कोकिल सुन मधुर बैन चलेगये द्रुमन माहिं, कमल नाल करै पेख जलमें डुबाय गये ॥
अस्तन निहार उतै नींबू ना रंग भये, कटिसों लजाय मृगपति बन छिपाय गये ॥

दोहा-"तजौ गर्भ अब चंद्र तुम, भूलौ मत मनमाहिं ।
क्रोध हँसन भ्रूबंक छबि, तुममें सपनेहु नाहिं ॥"

रत्न०–प्राणनाथ ! अब इस तुच्छा दासीकी कितनी बडाई करोगे ?

दोहा--जैसे पूरण चन्द्रकों, उमडत सिंध बिलोक ।
हिय उमडै तुम दरशसों, मिटै सकल मन शोक ॥

सरो०--वाह प्रिये ! स्त्री होकर पुरुष कैसे और कार्य किये सो तो किये परंतु दूसरी स्त्रीसे विवाह भी करलिया ?

रत्न०–हे प्राणप्यारे ! मैं अच्छी तरह जानतीहूं कि, यदि कोई देवताभी त्रिभुवनका सुख देकर हमारी आपकी प्रीतिको तोडना चाहै तो नहीं टूटसकती हमने तुमने इसीलिये संसारमें जन्म लियाहै कि, एक दूसरेके होकर रहैं एकसे दो भली आपकी सेवा भले प्रकारसे होगी ।

सरो०–यदि उनकाभी ऐसाही ध्यान हो ?

रत्न०–अवश्य होना चाहिये और होगा । चन्द्रमा सहस्रों चकोरोंपर दृष्टि करताहै, परंतु चकोर दूसरा चन्द्रमा नहीं समझती यह तो कहिये आपने मेरेलिये इतना परिश्रम क्यों उठाया ? ऐसा मुझमें क्या मीठाहै ? थोडासा रूपथा वहभी आपके वियोगमें लोप होगया ।

सरो०–प्यारी प्रेम, और क्या ?

दोहा--दूर परे नहिं मिटतहै, उत्तम कुलकी लाग ।
जो युगभर जलमें रहै, मिटै न चकमक आग ॥

कवित्त ।

"दहै अंगको पतंग दीपके समीप जाय, बारिज बंधाय भृंग दरद न मानई ॥
सुनिके विपञ्ची धुनि विशिख सहैं कुरंग, सती पतिसंग देह दुःखकों आनई ॥
मनोहीन छीन फनी मीन बारि सो विहीन, होयके मलीन मति दीनता बितानई ॥
चातक मयूर मन मेहके सनेह प्यारी, जाकी लगे नेह सोई देह भले जानई॥"

चौपाई।

आओ प्रिये रतिरंग मनावैं। काम केलि कीर अनंग जगावैं ॥

रत्न०–मैं अपनी बहिनको और बुलालूं।

सरो०–प्यारी पीछे ?

रत्न०–नहीं ! नहीं ! मैं पीछे (सरोजके दोनों हाथ ऊपरको पकडके) यह बात तो आपको माननीही पडैगी।

सरो०–और जो न मानूं ?

रत्न०–न कैसे मानौगे–मैंने आपको बाँधलियाहै।

सरो०–प्रिये ! आपके प्रेममें तो पहिलेही बँधापडा हूं, जो इच्छा हो सो करो।

रत्न०–(कुछ ऊंचे स्वरसे) अरी ! कुसुमावती ! हमारी बहनसे जाकर कह कि, महाराज याद करतेहैं।

(नैपथ्यमें)

जो आज्ञा–

(पटाक्षेप.)

दृश्य–३.

(स्थान मनोरमाका भवन.)

(मनोरमा कपोलपर धरे हाथ कुरसीपर बैठीहै)

(नैपथ्यमें)

"चकई री ! चल चरण सरोवर जहाँ नहीं प्रेम बियोग।
जहाँ भ्रम निशा होत नहिं कबहुँ सो सायर सुख योग ॥"

(कुसुमावती और रूपदेवी कहतीहुई आतीहैं.)

दोहा–"चक्रवाक चकई मिलै, मिलै चकोरहि चन्द।
प्यारीसों प्रतिम मिलैं, हमें होय आनन्द ॥"
प्यारी तेरी बाटमें, सजन बिताई रात।
चटकत कली गुलाबकी, होन चहत परभात ॥
खिली चमेली बागमें, तुम क्यों मनन उदास।
चचल चपला चालसों, चल प्यारेके पास ॥
चंद्रवदन मृग लोचनी, चम्पाकीसी देह।
ओढ चम्पई चोरपट, चलौ कंथके गेह ॥
प्यारी तोहि लखि चंद्रहू, निशिबीतन मिसि जाय।
संग तजै नहिं चाँदनी, तुव किम ब्योग सुहाय ॥

साजन नदिया तीरपर, तो बिन अति बेहाल ।
कितै गई वह मोतिया, कहत नयन भये लाल ॥
हे सजनी ! रजनी उन्हें, तो बिन भई अपार ।
चंदन चंदा चाँदनी, भये जरावनहार ॥
करकमलन माला लिये, करत तपस्या तोर ।
कामिन कुंजन केलि करि, चित चातककी चोर ॥
देखत इन्दु कमोदनी, विकसत वदन पसार ।
प्रिये चंद तो बिन सखी, बैठे निज मन मार ॥
लचक चाल लाली अधर, अहो लजवंती नारि ।
लाल तिहारे ह्वै रहे, भरि भर लोचन बारि ॥
तो बर बीना हाथले, बोलत वयन वियोग ।
बौरेसे फिरते फिरैं, विरहा तन लग्यो रोग ॥
काहि सुनत नहिं हेसखी, कही केतकी बार ।
गमन भवनको कीजिये, बहुतक भई अबार ॥
वह अलबेला महलमें, पर्यो अकेला हाय ।
अरी नबेला विकलहै, रतिकी बेला जाय ॥

मनो०– दोहा ।

दो होते क्यों एकले, क्यों मोहिं रही बनाय ।
का पायन मेहँदी लगी, ह्याँलौं चल्यो न जाय ॥
बाहर मीठे बोलते, भीतर तो कछु और ।
फिक २ ऐसी प्रीतिकों, एक चित्त दो ठौर ॥
"बहुतवस्तु जहँ होतहै, करत न कोई पीर ।
चंदनको ईंधन करत, मलिया बासी भीर ॥"

जो वस्तु सुगमतासे मिलतीहै उसकी कीमत नहीं होती ।

कु०–आली ! वेभी रूसो बैठीहैं और कहतीहैं कि, पहिली बारी आपकीहै । हे शुभे ! जो स्त्री पहिले क्रोधमें पतिके विनयका अपमान कर बैठतीहैं फिर पीछे प्यारेकी प्रीतिको समझ मनहीमन पछिताय बहुत अकुलातीहैं । (हौले रूपदेवीसे) इस समय सखीकी वह दशाहै कि,

दोहा–"जलगर्भित कदली कुसुम, सुध दे करत अचैन ।
हिय रिसते आँसू भरे, रतनारे तिय नैन ॥"

(मनोरमासे) कोमल जलसे कठोर पर्वतभी विदीर्ण होताहै, और विशुद्ध प्रेमसे पाषाणका हियाभी पिघल जाताहै। यदि आप मान करैंगी तो कदाचित उनको ऐसा ध्यान हो कि,

चौपाई।

"मन मलीन तन सुन्दर कैसे। विषरस भरा कनक घट जैसे॥"

रू०–अरी! यह बात नहींहै, मानसे प्रीति अधिक होतीहै, इसी कारण आपभी मान करतीहैं। परंतु

सोरठा।

"जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीतिकी रीति भलि।
विलग होय रस जाय, कपट खटाई परत ही॥"

मनो०–हे मेरी बहिन!

कवित्त।

"भौंहनि कमान तान फिरत अकेली वधू, तापै ये विशिख कोर कजल भरैहैं री॥
तोहि देखि मेरेहू प्यारे मन डोल उठे, मघवा निगोडो उतै रोष पकरै है री॥
बलि बलि जाऊं निज मातु पित दुलारीजी, मेरे नेक कह्यो मान तेरी कहा बिगरै री॥
चंचल चपल ललचौंहे द्दग मूँदि राखि, जौलौं प्राणप्यारी मम अंकसों परैहै री॥"

(रत्नकुमारीका कहतेहुवे प्रवेश)

राग झंझोटी।

बहिन! काहे रोष करौ॥
मैं चेरी तुमरे चरणनकी। औगुण चित न धरौ॥
मिल दोनूं प्यारे पीतमसों। सुख आनन्द भरौ॥
याहीमें रस रति रंग राचै। बनिता नियम खरौ॥
स्वामि रिसाय आप रूसते। कहूं कारज नाहिं सरौ॥

बहिन वे चंद्रमाहैं तो हम कला। और वे बदराहैं तो हम झला।

मनो०–हाय मैंने बडी भूलकी अब क्या उत्तर दूं ओर स्वामीको कैसे प्रसन्न करूं?

(सरोजकुमारका प्रवेश.)

सरोज०–(मनोरमासे) हे प्रिये! जो निशिवासर आपकी प्रसन्नताका अभिलाषीहै उसे प्रसन्न करनेकेलिये आपको परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं है परंतु प्रिये!

दोहा–"अल्पकष्टसों दिन कट्यो, करत राजके काज।
बिनविनोद लम्बी निशा, क्योंकर कटिहै आज॥
ज्यों ज्यों रात ढलतीहै, कामव्यथा अधिक सतातीहै।

मनो०-(लज्जित होके सिमिट जातीहै)

कु०- दोहा।

काहे लज्जित सुन्दरी, कबलौं नयन दुराय।
रतिविलास नित होयहै, प्रीतम गर लिपटाय॥

सरो०-प्रिये! क्या संकोचहै मेरे देखनेसे आपका चन्द्रमासा मुख घिस न जायगा।

दोहा-औरनके बहँकायते, करि बैठत हौ रोस।
झूँठ साँच परखत नहीं, वृथा देतहौ दोस॥

मनो०-(उठकर) हे कलत्रप्रिये! मेरा अपराध क्षमा कीजिये-मेरे शरीर और मनपर आपका अधिकार है चाहे सो कीजिये। परंतु पहिले यह तो बतादीजिये कि, आपने किसके कहनेसे मेरा हृदय चुरालिया? (मुसकुराके लज्जासे मुख फेर लेतीहै)

रत्न०-इसकी अपराधिनी मैं हूं अजी यह रात जैसी वियोगमें बढी थी, अब भी बढैं तो जानैं आली! वर्षाका सुन्दर समयहै, बादलोंके उठनेसे विरक्तोंकोभी विरहा सताता है।

सरो०--प्रिये! वहाँ क्यों खडीहौ? आपकी जगह तो मेरे दिलमें है (स्वयम्) अहा! लज्जासे मुख दुराय कभी २ कनखियोंसे कैसी निहारतीहै? मानों मेघ घटामें सटाहुवा पूर्णचन्द्रमा रहरहकर बादलसे निकल चांदनीकी झलकें दिखाताहै (प्रगट) प्रिये! कहीं मेघकी आडमें होजानेसे चन्द्रमाका सौन्दर्य नहीं छिपता।

दोहा-सुन्दर मुखपै लट पडीं, पवन झकोरे खाय।
नागिन अमृत चूंसतीं, चंद्र बिम्ब लिपटाय॥

जहाँतक प्रेमके विषयमें प्रेमीका भाव अपने समान होताहै, वहाँतक उसके दोषोंकी क्षमा भी हो सकतीहै। यदि मेरा कोई अपराधभी है तो क्षमा माँगताहूं।

दोहा-"रूप भरी लज्जा भरी, शीलवती मृदुबैन।
चतुरगुणी बनिता मिलीं, करते सुख अरु चैन॥"

कु०-- चौपाई।

"पीय निकट तोय लज्जा आवै। बदनचंद पट ओट दुरावै॥"

कवित।

लपनै निहार भ्रम भँवराकों परयो भारी, गुंज गुंज लिपटैं मधु पंकजसों निकारवे॥
रूपकों परेख हार मानको मनन देख, रतिहूं सरमाय चली प्रीतमसों पुकारवे॥
चंद्रमा समझ चकोरहू चकित भये, चातक जिमि चीत पीय प्रीतिकों पसारबे॥
एरी! लजीली! पट घूँघट उघार देव, चक्कर लगात चंदमुख चंदकों निहारवे॥

(सरोजसे) दोहा।

राजन ! बदन उघारतैं, अली सतावैं जोय।
रोज सरोजनके परै, हँसी ससीकी होय ॥

सरो०–आओ प्रिये ! (मनोरमाको गले लगाना चाहताहै)

मनो०–महाराज ! आप क्या करतेहैं ?

सरो०–आमोद प्रमोदके लिये चाहे सो करैं आपको क्या (गले लगाकर) प्रिये ! बिराजौ–देखो ! चकई यदि कमलपत्रकी आडमेंभी होजाय तो चकवा कैसा बिह्वल होताहै ? भौंरा फूलोंमें ही प्रसन्न रहताहै।

(एक ओर रत्नकुमारी दूसरी ओर मनोरमा और बीचमें सरोज-कुमार सेजपर बैठतेहैं)–

रत्न०–हे प्राणनाथ ! आप हमारेलिये ऐसे क्यों बिह्वल होतेहैं ? ऐसा हममें क्याहै ?

सरो०–हे रति सुन्दरी ! मनको खींचनेवाली आकर्षण शक्ति आपमेंहै।

दोहा–प्यारी ! तुमरे अधरकी, छबिहू कही न जाय।
दो पखुरी जु गुलाबकी, उपतल मिलीं ज्यौं आय ॥

कुंडलिया।

चंदासो लै जोतको, गंध गुलाब मिलाय।
कोमलता ले कंजसों, नीर निवान मँगाय ॥
नीर निवान मँगाय, चातुरी लई गुरूकी।
शील धर्म दृढताय, भई ज्यों गती धुरूकी ॥
कञ्चनको ले रंग, स्वाद ले सुधा अनंदा।
बसुधा को सुख लूट, रच्यो बिध आनन चंदा ॥

चढीहुई आँखोंसे उमंग टपकताहै और आपका मंदमुसकुराना, लज्जित होना, मुख फेरकर अर्धकटाक्षसे देखना, और मधुर २ बोलना यही तो मेरे कलेजेको घायल करतेहैं।

कु०–नव यौवन चढतेहीं मंदमुसक्यान, मृदुवचन, गजगमन, और बिलासमय सम-भाषण स्वयम् प्राप्त होतेहैं इसमें हमारी सखिनका क्या दोषहै ?

सरो०–(कुसुमवतीसे) सखी तुम्हारी नहीं बदी, प्रेमके न्यायालयमें प्रतिनिधि नहीं लिये जाते और प्रेमशास्त्रमें तर्कभी नहीं चलता। रसिकजनोंके देखनेके योग्य सुन्दरस्वरूपहीहै। (मनोरमासे) प्यारी ! आपके मुखकी उपमा चंद्रमासे यों नहीं देसकता कि, वह कलंकी है और सदैव घटता बढता रहताहै–शीशपर शृंग स्वयम् कहरहीहै कि, यौवन मांगले–नैनोंको कमल नहीं कहाजासकता, क्योंकि वे रात्रिको

जो रतिका समयहै मुँदजातेहैं, कपोलकीसी गोलाई भूगोलमेंभी नहीं अधरोष्ठसी मिठाई अमृतमेंभी नहीं और दंतपंक्तिकीसी आभा मोतीकी लडीमेंभी नहीं पाई जाती ।

कु०–(हौले रूपदेवीसे) अरी देख तो मनोरमा पहिले लज्जासे कैसी बनगई मानों इन्हें जानतीही नहीं और अब शनैः २ प्रेममें भर मुसक्या २ के लज्जा छोडती और निकट आती जातीहै ।

रू०–(हौले कुसुमावतीसे) पहिले नाहीं करना, फिर अभिलाषा उत्पन्न होनेपर शरीरको ढील देना, एकान्तक्रीडासे प्रसन्न होना और प्रसन्न करना, नवयौवनाओंके स्वाभाविक गुणहैं ।

कु०–(हौले रूपदेवीसे) हाँ ठीकहै, गर्बीली स्त्रियोंमें मान तभीलों ठहरताहै जबलों प्रेमरसका स्रोता अंगमें प्रवेश नहीं करता ? जहाँ क्रोध आँसू हर्ष प्रीत और रुखाई सब एकही समय होतेहैं उसे किलकिंचित हावभाव कहतेहैं सो यह युवतीजनोंमें स्वाभाविक होताहै ।

सरोज०–(कुसमावती और रूपदेवीसे) क्या गुपचुप बात कररहीहो ? अपनी सखिनका बहुत पक्ष करतीहो तो हमारे प्रश्नका उत्तर दो । देखें बताओ तो हमारी दोनो प्रियाओंमेंसे कौनसी अधिक सुन्दर है ?

कु०–महाराज ! सूर्य चन्द्रसे अच्छा और चंद्र सूर्यसे, परंतु दोनोंकी शोभा पृथक् २ है ।

रू०–और वे दोनों विश्वमें एक २ ही हैं ।

सरो०–हम कायल भये–तुम बडी चतुरहौ ।

दोनों–तो अब हम जातीहैं,–किसी औरकी परीक्षाकी वारी है, जो कामशास्त्रमें लीजायगी ।

दोहा ।

प्यारी हम यह चहतहैं, सदा सुहागल वृंद ।
रहौ कंथके मन बसी, करौ नित्त आनन्द ॥

(दोनों सहेली चलीगई)

सरो०–(रत्नकुमारी और मनोरमासे) मैं आप दोनोंकी शीलपरायणतासे बड़ा प्रसन्न हूं ।

दोनों–हे प्राणेश ! देह और नेह आपका और शील और धर्म हमारा है ।

सरोज०– दोहा ।

"अनियारे दीरघ नयन, कितीन तरुनि समान ।
ये चितवन औरै कछु, जेहि बस होत सुजान ॥"

मनो०–(चंद्रमाकी ओर) सोरठा ।
"हे शशि ! हे निशिराज ! काज आज तुमते परयो ।
रोको रथ महराज, काहि भगाये जातहो ॥"

(रत्नकुमारीसे) सोरठा ।
"आली हमरी बात, ढीठ चंद्र सुनतो नहीं ।
पिया मिलनकी रात, संग लगाये जातहै ॥"

र०– रत्न०– सोरठा ।
"पिय बिछुरन दुख मोय, चंद्रछिपत पिय जाँयगे ।
अरे बेदर्दी ! तोय, नेक दया आवत नहीं ॥"

अरी ! वह निगोडा तो वियोगमेंही टाला नहीं टलता था अब काहेको मानैगा ?

दोनों–(सरोजसे) दोहा ।
"भूषणप्रिय ! भूषण सबै, कुलभूषण तुम अंग ।
हम बिच तुम इमि सोहते, जिमि शशि तारन संग ॥"
चंद ढीठ सुनता नहीं, प्यारे ! हमरी बात ।
रति आनन्द मनाइये, जात कामकी रात ॥

(परदा खींचलिया)

दृश्य ४.

(स्थान शयन भवनका बरामदा)

(शृंगारवती, रूपदेवी, और कुसुमावतीका प्रवेश)

सब– कबित्त ।

गगनमें ललाई छई मंद भई चंद जोति, कँजकली खिली देख सज्जन अनुमानदे ॥
कुमुदिनि कुँभला लगी शर्द भई मुक्त माल, कोकिलकी नीकी ध्वनि सुनिये तुम कान दे॥
तमचुर पुकारैं हैं चातक कह पिया प्रिया, चकवी कह चकवासों मोकों रतिदान दे ॥
रविहू अब उदय भयो तारनको द्योत गयो, उठिये महाराज ! राजकाज ! करौ ध्यान दे ॥

(नैपथ्यमें)

कमलके मधुका पान करके भ्रमर कभी तृप्त नहीं होताहै ।

कु०–भोरहुवा रात्रीका अनुचर अँधेरा भी उसके साथ भाग गया–

रू०–(शृं० से आली ! नियमानुसार प्रेमपूर्वक रति करनेसे जो सुख दंपतिको प्राप्त होताहै, उसका वर्णन नहीं होसकता । स्त्री–पुरुषमें एक दैवी आकर्षणशक्ति मिलनेकी हुवा करतीहै–बिजुली सदा स्पर्शसे अधिक और शीघ्र उत्पन्न होतीहै

इसीकारण अपने इष्टमित्रसे स्पर्श करनेको जी चाहताहै और जो असर इस शक्तिद्वारा एकका दूसरेमें प्रवेश करताहैं उसीको प्रीति कहतेहैं । कामोद्दीपन इसी विद्युगमनका नामहै, यह बडी प्रबल शक्तिहै इसी कारण विद्वान कामदेवको बली मानते हैं ।

शृं०–हाँ बहन ! "प्रेमीजन जबतक स्त्रीको नहीं देखते तबतक तो देखनेकी इच्छा रहतीहै, देखतेहैं तब उसके साथ विलासकी इच्छा होतीहै और लिपटने पर विलग नहीं होना चाहते"–प्रेममें उन्मत्त होकर जो कार्य किया जाताहै उसके आनन्दकी सीमा नहीं ।

कु०–मोहके जितने सम्बंध इस संसारमेंहैं यह प्रेम उन सबमें बडाहै जीव जिसे एक छोटीसी चींटीभी प्रिय समझतीहै प्रेमीजन फंदमें पड अजायें खो देतेहैं । प्रीतिका समुद्र अथाहहै इसमें डूबे पीछे कोई निकल नहीं सकता । यह रस कचे घडेमें नहीं ठहरता,–जो घट विरहाग्निमें तप्त २ कर पक्के होगयेहैं उन्हींमें वह प्रेम मनुष्यके मनको हाथमें लेकर क्या २ खेल खिलाताहै ।

दोहा–"भूतछुए मदिरा पिये, सबकाहू सुध होय ।
प्रेमसुधा रस जो पिये, तेहि न रहै सुधि कोय ॥"
मीन कमलके ढिंग बसै, मधुकर रसको लेय ।
जासों ताको प्रेमहै, सीप स्वातिजल देय ॥

प्रेम वही करसकतेहैं जो प्रीतिकी रीति जानतेहैं ।

दोहा–"प्रेमरीति जाने बिना, प्रेम न परचै कोय ।
चरणहीन ऊंचे अचल, चढत न देखे कोय ॥"

शृं०–मदन महीपतिकी दुहाई सर्वत्र एकसी फिरतीहै, क्या प्रीतिकी सीमा इससेभी बढकर होसकतीहै ?

"पौढे प्रेमके पर्यंक ॥
सुरत रसमें मग्न तीनों लेत भर २ अंक ॥
कोककला प्रवीन विहरत उठत भाव तरंग ।
करत केल कलोल तीनों उठत उमंग अनंग ॥"
मानत कामको निश्शंक ॥

दोहा–"तिय हिय दर्पण तनु रुई, रहीहुती पुट पाग ।
प्रीतम रविकी किरणलगि, जाग परी तन आग ॥

चौपाई ।

"कछु छल कछु बल कछु मनुहारी" । अंकभरी तहँ प्राणपियारी ॥

दोहा–"चुम्बनसमय जु नासिका, बेसरि मोति डुलाय।
अधर छुडावन पीवके, मानो हाहा खाय ॥"

अरी ! दोहा।

"जात न उठ लपटात सुठ, कठिन प्रेमकी बात।
सूर उद्योत करोत सम, चीर करे बिन गात ॥"

(नेपथ्यमें)

हे रजनी ! क्या तुझे इतने दिवस पीछेभी हमारा एकत्र होना न सुहाया जो ऐसी जलदी बीतगई।

कु०–हे सजनी ! रात्रि कहगईहै कि, सखी विह्वल न हो मैं बत्तीसघडी पीछेही फिर आतीहूं–

(रत्नकुमारी और मनोरमा भीतरसे निकलीं.)

रू०– कबित्त।

ललित नवलबधु गज सी चलत देख, लीन भयो मन वाको प्यारेके अनंदमें।
चकितसी चितै रहीं चित्तहू ठिकाने नाहि, सुनिहो सजन मन फांस्यो किमि फंदमें ॥
प्यारेजूकी पीर लगी प्रेमके बटोहाजूको, मंद मंद चलै पौन लिपटी सुगंदमें।
आलीकी अलक लैकै मुख बिच लाय धरीं, लट्की लट् लपनकै लकीर भई चंदमें ॥

कु०–अरी नहीं सखी.। कबित्त।

सोये केलिमंदिरमें प्रिया और प्रीतम तीनों, कोककी कलान लागे करन अनंद में।
अतिछबि छाजे राजैं भूषण कहूंके कहूं, उरझे तरौना कान मुक्तमाल फंदमें ॥
रति औ मनोज जैसे प्रगट दिखाई देत, उपमा कछू न और आवत पसंदमें।
कोमल कपोल पास श्यामता झलक किधौं, लट्की लट लपनकै लकीर भई चंदमें ॥

शृं०– चौपाई।

"भ्रमत नैन पलकैं झपजाहीं। शिथिल अंग शोधी कछु नाहीं ॥
पग न परत मग गति तजि दीनी। बिथुर रहीं अलकैं रस भीनी ॥
खिसरे भूषण उलटे अंगा। बसन सुवास बास पिय संगा ॥
दृगन दीप द्युति क्षीन विराजै। कहुँ कहुँ पान पीक छबि छाजै ॥
अधर दंत दंपति असलाई। अति अद्भुत उपमा तिन पाई ॥"

दोहा–"अधर सुधारस पान किय, तृषा मिटाई आप।
रह्यो जु कछु इक मानहू, मसिक लगाई छाप ॥"

जब भ्रमरने कमलमें प्रवेश किया तो केशर झार सब रस लिया।

चौपाई ।

"अध मुद्रित-नयनन छबि पावै । मृग छौनन कछु औंघसी आवै ॥
गजगामिन अंमृतकी धारा । चल नाहिं सकत प्रेमके भारा ॥
सगबगि अलकैं श्रमजल झलकैं । शोभित पीकभरी दृगपलकैं ॥"

जहाँ पियाके गलेमें हाथ पडा फिर कुछ सुधि नहीं रहती ।

रत्न०-(आँखें मलती हुई) सखी ! गुलदस्तोंमें पुष्प कुम्हला गयेहैं और बदल देना

कु०-नहीं रानीजी ! रातको आपसकी हाथापाई देख विचारोंने लज्जासे मुख नीचे करलिये होंगे ।

रू०-अरी देख ! वे कलियां जो रातभर रँगरलियां मनाचुकीं तडका होतेही अभिसारिकाकी भाँति अपना मुख नीचा कर लज्जासे सिमटी जातीहैं-किन्तु जो रातभर विरहिनी कुलबधूकी भाँति संकुचित और उदास रहीं, प्रातःकाल होतेही आगतपतिकाकी भांति फूली अंगों नहीं समातीं और खिलखिला उठीहैं ।

शृं०-वाह ! वाह !! क्या शोभा बनीहै ।

कवित्त ।

"पहिलेही सोनेसो शरीर सब शोभित हो, तापर बसंती बास पवन बनायो है ।
अंगलागी केशर सो अबलों न जानी हुती, खुली खसबोई तब मर्म बहू पायोहै ॥
ग्वाल कबि राबरे बसंती या कपोलनपै, कंतने चुवायों दंत अजब सुहायो है ।
मानौ पुखराजकी नवीन या जमीनपर, मीनकेत जडियाने मानिक जमायोहै ॥"

कु०- राग काफी ।

कहौजी कैसी रात जगाई ॥ (टेक)
चलत किते पग धरत कितैकों तन सोधी कछु नाई ।
बिंदिया बिकस कपोलन आई: बेसर लट उरझाई ॥
माँग मोतिन बिखराई ॥
नैन उनीदे अटपटी अलकैं अंग लेत अंगडाई ।
पानपीक कपोल बिराजै दंतचिह्न छबि छाई ॥
आज बनी पीके ढिगजाई ॥
दोउकर कलशा कंतने लीने छतियन छाप लगाई ।
करत किलोल कंचुकी फारी देत उरोज दिखाई ॥
कछू तुमहूपै बनि आई ॥
केशर झार लियो रस पीतम मनमथ पान कराई ।
अंग अंग परफुल्लित गोरी मंद हँसन मुख पाई ॥
जानी सुख रैन बिताई ॥

कोमल कमल नालसे हाथी नहीं बँध सकता और सिरसके फूलकी पखुरीसे हीरा नहीं बेधाजाता, न एक बूँद मधुर रससे समुद्र मीठा होताहै, परन्तु एक बूंद प्रेमरससे अंग अंग प्रसन्न होजाताहै–प्यारी कुछ रातकी बात तो कहौ !

रत्न०–रातकी बात रातही जनती है ।

मनो०–या हम दोनों ।

शृं०आदि–अजी ! हम भी जानतीहैं (दर्पण दिखाती हुई)

राग मांड ।

जरा टुक जोवो तो सही, थारे मुखपर बरसै मौज ॥
बेसर नफ पोवो तो सही ।
बाल बखेरया नैन उनीदा, धोवो तो सही ।
थारे मुख दो चंद्राकार, कपोलकर टोवो तो सही ॥
माथे मांगका मोती बिखरया, पोवो तो सही ।
सखी अत्रामृत लखि लाल, लजित टुक होवो तो सही ॥

रत्न०–और मनो०–चार घडी दिन चढे सब एकत्र होंगे–वे तो स्नानादिकसे निवृत्त होने उस द्वारसे गयेभी अब हमारी गति बनाओगीभी या यों ही ठिठ्ठीबाजीमें दिन चढालोगी ?–

शृं०–लो अब तो ऐसी जलदी पडी, वे न उठते तो आज चाहे दुपहरही होजाता !

कु०–चलिये साहब जल तैयार है । (सब जाती हैं)–

दृश्य ५.

(स्थान कुसुमपुरका राज्यभवन.)
(चम्पादेवी, रत्नकुमारी, मनोरमा.)

चम्पा०–(रत्नकुमारी और मनोरमासे) बेटियो ! सदा अपने पतिकी शुद्धमनसे सेवा करना और प्रसन्न मुख रहना ।

श्लोक ।

"सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥" मनुः ।

अर्थात् सदा प्रसन्नमुख गृहकार्यमें निपुण और यथायोग्य व्यय और पूर्णप्रीति करनेवाली स्त्रीसेही उसका पति प्रसन्न रहता है और वह भी आनन्द पातीहै । स्त्रीकेलिये अपने स्वामीका अपूर्व और विशुद्ध प्रेमही स्वर्गीय सम्पत्तिहै और वही इस जडजगत्का एकमात्र जीवनाधारहै । बहुधा मूर्खास्त्रियाँ अपनेको पतिके बराबर अधिकारिणी समझती हैं, परंतु यह उनकी बडी भूल है । पुरुषकी शारीरक रचना स्वभाव, शक्ति, नीति, बल और बुद्धिपर विचार करनेसे वह श्रेष्ठही जानपडताहै । वह भरण पोषण करताहै, इस

लिये भर्ता, पालन करनेसे पति, शरीरका मालिक होनेसे स्वामी, प्राणका आधार होनेसे प्राणनाथ और ऐश्वर्य दाता होनेसे स्त्रीका ईश कहलाता है–" पतिरेवमहेश्वरः "

श्लोक ।

"एतद्धि परमं नार्य्याः कार्यं लोके सनातनम् ।
प्राणानपि परित्यज्य यद्भर्तुर्हितमाचरेत् ॥ "

अर्थात् इसलोकमें स्त्रियोंका सनातनधर्म यहींहै कि प्राणभी तजने पडैं तो त्यागदें, परंतु पतिके हितमें सदा तत्परहैं सुख मिलनेकी आशासे सब कोई सेवा और प्रेम करतेहैं परंतु जो कोई धर्म समझके करे उसको निःस्वार्थ प्रीति कहतेहैं । कन्या "देखै आप घर करै आप घर" सो तुम पहिलेहीसे गुणवान हो, अपना मन किसीप्रकार चलायमान न होने देना चाहिये । जिस पतिने अपना घर बार सर्वस्व तुम्हारे अधिकारमें देरक्खाहै और तो क्या तुम्हारे आनन्दके निमित्त अपने देहका मुख्य अंशभी देता है तो वे स्त्रियाँ कैसी निर्लज्ज, ढीठ, और कृतघ्नीहैं जो ऐसे अद्वितीय पतिसे चुराकर अपना तन, मन, धन, दूसरेको देतीहैं । गाय और कन्याको जिसके गले बांध दिया जाय, वहांही रहना पड़ताहै । पुरुष मोक्षका अभिलाषी होकर जिस भोग विलासको त्यागनेकी इच्छा करताहै, वही भोग विलास पतिके साथ निष्कपट प्रेमपूर्वक करनेसे स्त्री सद्गतिको प्राप्त होतीहै । पतिपत्नीका ऐसा अटूट सम्बंधहै कि, यदि प्रेमद्वारा दृढ बँधा रहै तो इससे बढकर और सुख नहीं होसकता । पतिसेही सन्तान और सांसारिक सुख प्राप्त होतेहैं । संसारमें सुख विना परिश्रमके नहीं मिलता । सेवा, प्यार, प्रेम और शृंगार द्वाराही पति प्रसन्न रह सकता है। अग्नि और सूर्य यह दोनों सबसे अधिक तेजवान् मानेजातेहैं । परंतु उनका तेजभी पतिव्रतास्त्रीके तेजकी बराबरी नहीं करसकता । पतिका एक अंश पुत्र प्राणोंसे अधिक प्यारा होताहै । फिर पतिपर तो जितना प्रेम दरशाया जाय थोड़ाही है । यदि यौवन और रूपको पाकर अपने प्राणपतिके अर्पण न किया तो उसका जीवन वृथा है । प्रेमही स्वर्ग और स्वर्गही प्रेम है । जैसे सूरज और धूप चंद्रमा और चाँदनी, पति स्त्रीका भी यही सम्बंध है ।

दोहा–"जेहि पाये संसार अरु, स्वर्गहुकी नहिं चाहि ।
सोइ अलौकिक शुद्ध शुभ, सरस सु प्रेम कहाहि ॥

पुरुषका भाग्य विद्या और उद्योगसे और स्त्रीका रूप गुण और शीलसे होताहै । लज्जाको कभी न छोडना चाहिये–लज्जाही स्त्रीका भूषणहै अबला जातिके हृदयमें एक लज्जारूपही ऐसा प्रबल बलका सोता बहताहै कि, जिससे समय २ पर यह अपने उमडतेहुवे मानसिक समुद्रके वेगको रोकनेमें समर्थ होतीहै । पुरुषका आदर उसके गुणसे और स्त्रीका रूप और लज्जासे होताहै । पुरुषको जैसा भरोसा अपने गुणोंपर होताहै स्त्रीको वैसाही अपने रूपपर होताहै । इसलिये अपने स्वामीको प्रसन्न करनेके लिये उचित शृंगारसे रहना चाहिये । जिससे उनका मन अन्यथा चलायमान न होवै ।

परंतु जैसे विना सुगंधके टेसूका फूल शोभा नहीं देता. वैसेही विना विद्या और शीलके रूप और शृंगार अच्छा नहीं लगता धीर विनीत और सीधेपनसे सदाही पतिकी आज्ञामें रहना और उनकी रुचिके अनुसार प्रत्येक कार्य करना चाहिये । और अपना तन, मन, धन सब स्वामीके चरणोंमें अर्पण करदेना चाहिये । सुन्दर, धीर, और नम्रमूर्तिको देखनेसे स्वयमही प्यार उत्पन्न होताहै । चातुरी और रूपके सन्मुख आनन्द नियत रहताहीहै और परस्पर प्रीति न रहनेसे घरमें घरही शत्रु होजाताहै । कानकी शोभा शास्त्र श्रवण करनेसेहै कुछ कुंडल पहिरनेसे नहीं, हाथकी शोभा दान देनेसेहै. कुछ कंकण पहरनेसे नहीं । सज्जनोंकी शोभा परोपकार करनेसेहै, कुछ चंदन लगानेसे नहीं । इसीप्रकार रूपकी शोभा शील धर्मसे है कुछ उसके भंग से नहीं ।

दोहा–"अंजन मंजन पट पहिर, गर्व करो मति कोय ।
बशीकरण प्रिय प्रेमहै, जिहि प्रीतम बश होय ॥

परपुरुषोंका रहस्य जाननेके लिये कुलकामिनियोंका चेष्टा करना महा अधर्म है अपने पतिको किसी बातके लिये विशेष दबाना नहीं चाहिये । जो बह प्रसन्नता पूर्वक दे आनन्दसे पहिरो ओढो, उसका तो मन तुम्हारे पास है, उसीको जतनसे रक्खो । यदि स्वामीमें कोई बुराईभी है तो आपभी उसके साथ बुरी न बनो वरन् शनैः २ और युक्तिपूर्वक उसको सीधे रस्तेपै लेआओ । यह न समझलेना चाहिये कि, दासदासी होते हुवे पतिकी चाकरी तुमको करनी आवश्यकीय नहीं है वरन् उनकी निज सेवा तुम्हारा परम धर्महै और इसीसे तुम्हारा कल्याण हो सकताहै । तुम दोनोंभी सहोदरकी भाँति मिलकर रहना और दोनोंही एक मनोरथसे स्वामीकी सेवा करना । यदि एकसे किसी कारण रिसभी होजाय तो दूसरीको भड़-काना नहीं किन्तु सँभाललेना चाहिये । तुम दोनोंकी परस्पर प्रीति और स्वामिभक्ति देखकर मुझे विशेष कहनेकी आवश्यकता नहींहै परंतु तोभी तुमको अबला जान और अपना धर्म समझके कुछ कहदियाहै । इसको पल्ले बांध लेना ।

दोनों०–माताजी ! आपके वचन शिरमाथे ।

(सरोज कुमारका प्रवेश)

चम्पा०–(सरोजसे) बेटा ! इनको मैंने भलेप्रकारसे समझादियाहै और तुमसे विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं । दोनोंको अपनी अर्धांगी जान समान भावसे बरतना । और जैसे शरीरके एक अंगमें लगनेसे दूसरेमेंभी पीडा होती है इसी प्रकार अपने सुख दुःखके साथ इनकाभी समझना । जिस गृहमें स्त्री क्लेशित रहतीहै वह कभी फलता फूलता नहीं ! इस कहनेसे मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि, यदि इनमेंसे कोई अनुचित कार्यभी करे तो भी ताडना न कीजाय ! परंतु वह भी इस प्रकार होनी चाहिये कि जिससे प्रेमके सम्बंधतक चोट न पहुंचे । एक दूसरेमें कुछ संदेह उत्पन्न

होतो झट कहकर साफ करलेना चाहिये मनमेंही रखनेसे क्लेश पहुँचकर बहुधा बडी हानियाँ होतीहैं । लो वे महाराज पधारे आओरी हम इधर होजायँ (एक ओर कोनेमें सिमटगई.)·

(सूर्यकांति, चंद्रकीर्ति, सरलसिंह, बीरसेन और विदूषकका प्रवेश)

सू०-(सरोजसे) बेटा ! अब राज्यका भार तुम्हारे ऊपर पडा मैं कहताहूं उसका ध्यान रक्खो । देखो ! आकाशका काम अवकाश देना, वायुकी गति, तेजका पाक, जलका पिंडीकरण, और पृथ्वीका धारण करनाहै । इसीप्रकार मनका काम शुभाशुभकी इच्छा करनाहै । बुद्धिमान्को चाहिये कि, अशुभको छोड सदा शुभकार्यमें प्रवृत्त होवे । ऐसेही आकाशका गुण शब्द, वायुका शब्द और स्पर्श तेजका शब्द, स्पर्श और रूप, अपका शब्द, स्पर्श, रूप और रस और भूमिका सब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधहै । परंतु सबका ज्ञान मनद्वाराही होताहै । यदि मन शुद्ध हो तो सब ज्ञान यथार्थ होगा । नीतिका लेखहै कि, सब अर्थ शब्दोंहीमें वाच्य भावसे नियतहैं और शब्दोंका मूल वाणीहै । क्योंकि सब बातें शब्दोंहीसे जानकर कीजातीहैं ? इसीलिये वाणीसे निकलना कहतेहैं जो उस वाणीको चुराता अर्थात् अन्यथा कहताहै वह मनुष्य सब भाँतिसे चोरी करनेवालाहै । बेटा ! तुमभी ध्यान रक्खो कि, मिथ्याभाषण कभी न करना और जो खोटे मनुष्य ऐसा करैं उनको यथायोग्य दण्ड देना । चतुराई केवल इनबातोंसे आतीहै देशाटन, पंडितमैत्री, वारांगना, राज्यसभा, और शास्त्रोंका अवलोकन, परंतु जो यह शुद्धमनसे कियेजाँय नहीं तो विपरीत फल होताहै । जो लोग स्वार्थसाधनके हेतु नीचकार्यमें प्रवृत्त होतेहैं वे मानको पीठ पीछे और अपमानको आगे करलेतेहैं, किसी प्रकार नहीं डरते, ऐसोंसे बचना चाहिये । "गुण ना हेरानो गुण ग्राहक हेरानोहै" यदि मैं जानताहूं कि, तुम सर्व प्रकारसे गुणी हो तौभी सदैव गुण उपार्जनमें लगे रहना । यदि आनन्द कोई वस्तुहै और उसका सुख कोई चीजहै तो वह गूँगेके गुडके समान स्वयम् अनुभव करने योग्यहै न कि शब्दाडम्बर द्वारा कहनेका विषय, इससे अपनी बडाई करना महापाप है जो गुण तुममें हैं तो विना कहे दूसरे बडाई करैंगे और कहनेसे और बुराई बंधेगी । पुत्र ! राजाही युगका कारण है । जिस समय जैसा राजा होता है वहां वैसाही युग बरतता है । जब राजा दण्ड और नीतिको विधिके साथ काममें लाताहै तो सतयुग होताहै और जब दण्ड नीतिमें एक अंश घटजाताहै तो वही काल त्रेताहै । और दो अंश घटनेपर द्वापर आजाताहै इसी प्रकार जब राजा दण्डनीतिको छोड सर्वथा अन्यायसे प्रजाको सताताहै तो उसी कालका नाम कलियुग है । इसलिये न्याय और नीतिको सदैव काममें लाना चाहिये और कुचाल और अन्यायसे बचन योग्यहै, । अभी तुम युवा हो अनुभवरहित हो ।

सर०-श्रीमहाराज ! जिस जातिका जो सहजगुणहै वह स्वभावहीसे उपजताहै इसमें अवस्थाका कुछ नियम नहीं ।

सु०—यह तो सत्यहै परंतु ।

श्लोक ।

"यौवनं धनसम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकता । एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥"

सोरठा ।

"इकइक अरी कराल, धन यौवन प्रभुता निपुण ।
बाकी कौन हवाल, जाके सँग तीनों बसैं ॥"

इस अवस्थामें मनको रोकना बडा दुर्लभहै, देखो बेटा! धर्म दशप्रकारकाहै—धृति अर्थात् संतोष, क्षमा—दूसरेसे अपकार पानेपरभी बदला लेनेकी इच्छा न करना, दम—विकारके कारण विषयके निकट होनेपरभी मनको चलायमान न होने देना, अस्तेय—अन्याय न करना, शौच—शुद्धरहना, इंद्रियनिग्रह—विषयोंसे चक्षु आदि पांचों इंद्रियोंको रोकना, धी—शास्त्रादिका तत्त्वज्ञान प्राप्त करना, विद्या—आत्मज्ञान जो मोक्षका हेतुहै पाना, सत्य यथार्थ कहना और करना, और अक्रोध—क्रोधका कारण होनेपरभी क्रोध न करना, इनका सदैव ध्यान रखना उचितहै, प्रजापर अन्यायभी न हो और भय ऐसा हो कि—

चौपाई ।

सोवन देहु सकल जो सोई । जागे दण्ड न भय कछु होई ॥

और यथाशक्ति कुसंगसेभी बचना चाहिये ।

सर०—श्रीमहाराज! दोहा ।

"सुजन उत्तम प्रकृतिको, कह कर सकत कुसंग ।
चन्दन बिष व्यापै नहीं, लिपटे रहत भुजंग ॥"

सु०—नहीं मंत्री महाशय ! तुम भूलतेहो " काजर की कोठरीमें कैसोहू सयानो घसै एक रेख काजरकी लागिहै.पै लागिहै—बरन विवेक द्वारा दुष्टजनोंकोभी सज्जन बनाना चाहिये । लोहाभी लकडीका संसर्ग पाके पानीमें तैरने लगताहै । प्रत्येक मनुष्य विचारसे अपना मंत्री स्वयम् होसकताहै । इस संसारमें भय दण्डका है, दुःख कुकर्मका, शत्रु धन, और नीचकर्म चोरीहै । यदि इनमेंसे एक २ बातको विस्तारपूर्वक कहूँ तो बहुत विलम्ब होगा—नीतिपर चलनेसे सब ठीक रहसकताहै ! सत्यका बडा भयहोताहै; और प्रबलभी हो परंतु दुर्बल साहसे डरताहै । संतोषमें सुखहै और दुःखी वही है जिसकी इच्छा पूरी नहीं होती । राज्यके व्ययकाभी बडा ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि बिना आमदके समुद्रभी सूख जाताहै और बिना संभाल अपना तनभी दुर्गंधित होजाताहै । अपनेसे प्रबलका सदा मान रखना उचितहै, क्योंकि सिंहके बालककोभी नहीं छेडना चाहिये ।

बिदू०—हां महाराज ! "जिसकी लाठी उसकी भैंस" सर्व गुण सुवर्णके आधीनहैं ।

सू०–दान, भोग, और नाश, इन तीनरीतियोंसे धन जाताहै पहिला उत्तम, दूसरा मध्यम और तीसरा निकृष्टहै। स्वामी, मंत्री, पृथ्वी, दुर्ग, कोष, सेना, मित्रवर्ग यह सब मिलकर राज्य बनताहै और इनमेंसे एकभी अंग भंग होनेसे राज्य नष्ट होजाताहै।

विदू०–लक्ष्मीका फल सुख भोगहै और यही अवस्था आनन्द मनानेकी भी है।

सू०–पंडितजी! आपका कहना सत्यहै, कृपणके यहां लक्ष्मी सुख नहीं पाती। वह किसीदिन दूसरोंहीका हित करतीहै। यह मैं नहीं कहता कि, तुम राजा होकेभी फटे वस्त्र पहिनो अथवा इच्छा भोजन न करो अथवा राज्यके योग्य उचित आडम्बर न रक्खो परंतु उचित व्यवहार सब अच्छा मालूम होताहै और बहुतायतसे अमृतपान करनाभी विष होजाताहै।

दोहा–निपट वृथा सब जानिये, धन यौवन गुण रूप।
लोभें कुष्ठ जामें बसै, औगुण एक अनूप॥

दुर्जन और चुगली करनेवालोंको मुँह न लगाना चाहिये।

श्लोक।

"दुर्जनःप्रियवादीचनैतद्विश्वासकारणम्। मधुतिष्ठतिजिह्वाग्रेहृदयेतुहलाहलम्॥"

भयानक व्याघ्र और विषधर सर्पकीभी दृष्टि! चूकजातीहै, परंतु दुष्ट जनकी प्रकृती नहीं चूकती! सर्पको दूध पिलाना उसका विष बढानाहै। सभामें योग्य और चतुर मनुष्य रखने चाहिये–पंडितको मद नहीं होता, मूर्खका संसर्ग स्वर्गमेंभी बुराहै, क्योंकि वह कुछ न जानताहुवाभी उन्मत्त होताहै। राजा अपनेही देशमें परंतु विद्वान् सबदेशोंमें पूजनीय होताहै। बरन् जो ऐसे मूर्ख देशमें हों उनकोभी शिक्षाद्वारा विद्वान् बनाना चाहिये। गंधी तिल्ली और तेलकोभी फूलोंमें बसाकर सुगंधित करलेताहै। निपट मूर्ख नहीं सुधर सकता ऊसर जमीनमें सोनेका हल चलानाभी वृथाहै। हे पुत्र! तुमने बहुत आपत्ति सहीहैं परंतु सोना जितना तपाया जाय उतनाही उसका मूल्य बढताहै! इसी प्रकार टक्कर लगे बिना बुद्धि ठिकाने नहीं होती। क्रोधको सदा बशमें रक्खो! क्रोधी मनुष्यका क्रोधही बहुत बडा शत्रुहै उसको और शत्रुकी आवश्यकता नहीं, लोभीको और अवगुणकी आवश्यकता नहीं, कुटिलकेलिये कुटिलताही महापातकहै, जिसने अपयश पालिया उसे मृत्यु प्राप्त होनेसे और अधिक नहीं मिलसकता, इसीतरह सत्यवक्ताको किसी तपकी जरूरत नहींहै। जिसका मन शुद्धहै उसको तीर्थयात्रासे क्या अधिक फल होगा? जो सज्जन हैं उनको मित्र और कुटुम्बकी कमी नहीं। यशप्राप्त करने वालेको और भूषण नहीं चाहिये सद्विद्या जिसने प्राप्तकीहै उसे धनसंचय करके क्या करनाहै? मूर्खकी प्रीति प्रातःकालकी छायाके सदृश पहिले बढकर फिर घटते घटते घटजातीहै और सज्जनोंकी प्रीति दुपहर पीछेकी छायाके समान पहिले थोडी और फिर बहुत होतीहै।

दोहा–"शठ सनेह जीरण बसन, जतन करत फटजाय ।
सुघड प्रीति रेशम लछा, उरझत सुरझत जाय ॥"

चौपाई ।

"मूरख हित अहि हेत समाना । शत्रु भलो जो होय सयाना ॥"

जगतमें अपने मित्र न होना अपनाही दूषणहै । एक पानीकी बूँद गर्म तवेपर पडके नाश होजातीहै । कमलके पत्तेपर मोतीकी तरह चमकतीहै, । और वही बिन्दू स्वाति नक्षत्रमें सीपीमें पड़के मोती बनजातीहै । यह सत्संगका ही गुणहै सत्पुरुष वेहैं जो अपना अर्थ छोड दूसरेका कार्य करतेहैं । सामान्य पुरुष वेहैं जो अपना पराया दोनों कार्य साधतेहैं । दुष्ट वेहैं जो अपने हितके अर्थ पराये कार्यको नष्ट करतेहैं परंतु जो व्यर्थ दूसरेकी हानि करतेहैं वे कैसे पुरुषहैं सो हमभी नहीं जानते । मछलीके उछलनेसे समुद्र नहीं उमंगता यदि दुष्ट जन कोई कटुवाक्यभी कहैं तो उसकी प्रकृति जान अशांति न होनाचाहिये । देखो ! पहिले काटा जाताहै फिर चीरा जाताहै, उसके टुकडे २ कियेजातेहैं,–और पत्थरपर घिसाजाताहै तोभी चंदन हियेमें लगके शीतलताही उत्पन्न करताहै और टुकडोंको भी चूर करके आगमें जलातेहैं तबभी अपना गुण नहीं छोडता और जलते २ भी सुगंधसे दूसरोंका चित्त प्रसन्न करजाताहै–ऐसीही सज्जनकी प्रकृति होनी चाहिये–कपटी और मूर्ख मित्रसे प्रगट और बुद्धिमान् शत्रु भला होताहै ।

सोरठा ।

"रेरे ! मेरु सुमेर ! तो साथी पत्थर भये ।
मलयागिरको देख, सभी वृक्ष चंदन किये ॥"

"आप भले तो जग भला नातर भला न कोय"

छप्पै ।

"मूरख कातर स्वामि भक्ति कछु काम न आवै ।
पंडितहूं विन भक्ति काज कछु नाहिँ बनावै ॥
निज स्वारथकी प्रीति करें ते सब जिमि नारी ।
बुद्धि भक्ति दोउ होइँ तवै सेवक सुखकारी ॥"

अकेला हीराभी शोभा नहीं देता । इसीप्रकार राजा विना सभा रत्नोंके अच्छा नहीं लगता फिर जो पुरुष जिस योग्य हो उसे वैसाही बरतना चाहिये । क्योंकि अनुचित सत्कार निरादरसेभी विशेष दुःखका कारण होता है और यदि सत्पुरुष का यथायोग्य आदर न करोगे तो वह तुम्हारे सम्मुख ऐसे रहैगा जैसे अंधेके आगे बहुमूल्यरत्न आकृतीके अनुसार एकही वचनका दो मनुष्योंपर पृथक् २ प्रभाव पडताहै । वही स्वातिबिंदु सीपीमें पडके मोती और सर्पके मुखमें विष होजातीहै और केलामें कपूर पैदा करतीहै । वचन सदाही विचार कर निकालने चाहिये ।

दोहा--"अग्नि दग्ध जो द्रुम लता, फिर दल फूलहु देत।
बचन दग्ध जो हीय बल, कबहुँ न अंकुर लेत॥

कटु बचन बिच्छूके डंकके समान है जो बहुतही थोडे हिस्सेमें लगकर सारे शरीरको हिला डालताहै। इस पृथ्वीपर दूसरे मनुष्यों और पशुओंके ग्राहक तो बहुतहैं, परंतु पंडित और गजका ग्राहक गुणज्ञ राजाही होताहै। ऐसे पुरुष अपने मंत्री बनाने चाहिये जिन्होंने बहुत सुनाहो, बहुत देखा हो, और बहुत पढाहो। जो धर्मके जाननेवाले हों, और मित्र शत्रुको समान जानकर न्याय करैं।

(श्लोक)

"क्षितिपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः॥
इति महति विवादे वर्तमाने समाने नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता॥"

प्रजासे बहुत द्रव्य लेकर राजाका हित करनेसे लोगोंमें बुराई होतीहै और राजकोष भरनेका कुछ विचार न रखकर प्रजाका भला करनेवाले को राजा लोग अधिकार पर नहीं रखते। इस प्रकारका परस्पर प्रतिकूल विवाद उपस्थित होनेपर राजा और प्रजा दोनोंका हित करनेवाला मनुष्य मिलना बहुत कठिनहै। अन्यायसे धन कमाकर धनी होनेसे कंगाल रहना भलाहै। क्योंकि रोगसे शोथ हो शरीर मोटा होनेकी अपेक्षा दुर्बल रहनाही अच्छाहै। जैसे मंत्रीहों उनसे वैसाही काम लेना चाहिये जो राजा अपना काम सर्वथा कर्मचारियोंपर छोडकर आप भोगविलास करतेहैं वे बिल्लीके हाथ दूध दही देकर सोतेहैं और जो सब कार्यका भार अपनेही ऊपर लेतेहैं, वे राज्य पदवी पाकर भी तेलीके बैल समान रातदिन जुततेहैं। यह सच है कि, तुम्हारे पूर्वजन्मके शुभ संस्कारसे आराम भोगनेहीके लिये राज्यप्राप्त हुवा परंतु उसमें ऐसे मग्न न होजाना चाहिये कि अपने धर्मसे च्युति हो भविष्यगतिको बिगाड बैठो। कर्मचारीकी परीक्षा करके उसपर विश्वास करना चाहिये। अति विश्वास करना अथवा बिलकुल विश्वास न करना दोनोंही अयोग्यहैं। मंत्रीका पहिले विश्वास बढाकर घटाना न चाहिये। वरन् कोई ऐसा कारणभी हो तो उसको पदसेही अलग करदेना उचितहै। क्योंकि जितना तुम उसका भरोसा कम करोगे उतनीही उसके हृदयसे तुम्हारी भक्ति कम होती जायगी। राजा यह न समझे कि राज्य केवल मेरे सुखभोगकेहीलिये है वरन् यह जानकर राज्य करै कि मैं प्रजाको सुखी रखनेके लियेहूं।

श्लोक।

" राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
प्रजास्तदनुवर्त्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥"

क्योंकि– श्लोक।

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥"

जिसप्रकार बडे लोग आचरण करतेहैं उसीप्रकार दूसरेभी चलतेहैं बडे लोगोंकी बात प्रमाण मानतेहैं उसीप्रमाणसे लोग वर्ततेहैं । राजा ज्ञानवान हो तभी प्रजा सुखी रह सकती हैं । भलीबातको हमारा शत्रुभी भली कह सकताहै । और बुरीको मित्रभी भली नहीं कहसकता । न्याय, सत्यता, परिमितता, स्थिरता, उदारता, विद्या, सदाग्रह. दया, नम्रता, भक्ति, धैर्य, शूरता, पराक्रम, और योग्यमान यह राजाके मुख्य गुणहैं । राजा नाम धराके रंककी तरह रहनेकी अपेक्षा बनमें राजाकी तरह रहना उत्तम है । "रंजनात् खलु राजत्वं प्रजानां पालनादपि" अर्थात् प्रजाका पालन और रंजन करनाही राजापनहै ।

श्लोक ।

"यथाप्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा । तथैव सोऽभूदन्वर्थोराजा प्रकृतिरंजनात् ॥"

आनन्द देताहै इसलिये चंद्रमाका नाम चंद्र अर्थात् आनन्द कर्ताहै, प्रतापवान्है इसलिये सूर्यका नाम तपनहुवा, इसी भाँति प्रजाके रंजन करनेवालेका राजा यथार्थनाम होता है । राजाको "यथानामस्तथा गुणः" होना चाहिये । प्रजाकी प्रीतिही राज्यबलहै और लोगोंका कल्याण करना यही सत्पुरुषोंका धर्महै । पारसके स्पर्शसे लोहाभी सोना होजाताहै,—जो राजा न्यायीहै उसे प्रजाका भय और प्रजाको उससे अनर्थदण्डका भय नहीं होता । राजाके सुखका आधार प्रजा और प्रजाके सुखका आधार राजाहै ।

श्लोक ।

युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्यात्तस्माद्यशोयत्परमं धनं वः ॥"

राजाका धन और यश प्रजाका कल्याण करनेहीसे रहताहै जैसे प्रजा कष्ट पानेसे क्षीण होतीहै वैसेही प्रजाके कष्टसे राजा क्षीण होताहै ।

श्लोक ।

" आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् ।
नृपतिर्निजलोभाच्च सदा रक्षेदिमाः प्रजाः ॥"

अर्थात् प्रजाको राजकर्मचारियोंसे, चोर डाकुओंसे, राजाके कृपापात्रोंसे, और राजाके निजके लोभसे हानिहोतीहै । यह पांचों उनके धनको लूटतेहैं सो राजाको इनसे अपनी प्रजाकी सदा रक्षा करनी चाहिये । राजा, स्त्री, और बेल, प्रायः अपने पासकी वस्तुसेही लिपटतेहैं—परंतु योग्य पुरुषको कृपापात्र बनाना चाहिये । असंगोंसे प्राणका नाश होताहै । स्वजन, परजन, और पुरजनोंके आनन्दका ध्यान रखना राजाका महान् धर्महै । जो कार्य करना उसे करके दिखाना चाहिये । बातमारना उचित नहीं । उत्तम कर्म करके मनुष्यको जो सुख प्राप्त होताहै उससे विशेष सुखमिलना कठिनहै और यह सुख अपने मनकी शुद्धि और परोपकारसेही मिलसकताहै । ऊंचे होना चाहतेहो तो नीचे

हो । स्वयम् सत्य व्यवहार न करके दूसरोंसे सत्य व्यवहार की आशा रखनी निरी भूलहै। पापीके मनमें एकप्रकारका घबराहट पैदा होकर शांतिको निकाल वहां अशांति उत्पन्न करदेताहै । जिससे कोई काय सिद्ध नहीं होसकता । साम दाम दण्ड हरेक प्रकारसे अपना काम निकालना चाहिये । और आचार विचारसे रहना चाहिये ।

विदू०–हां महाराज ! अपना उल्लूकहीं न जाय–' ' आचारे लक्ष्मीविचारे पंडित ' जैसे कि हम ।

सू०– दोहा ।

अपयशहू कछु होयतो, विचार कीजिये काज ।
अपनी जांघ उघारिये, आपन मरिये लाज ॥

लोहा विना चोट खाये सीधा नहीं होता–इसी तरह जबतक मनुष्यपर आपत्ति नहीं आती उसकी बुद्धिभी ठिकाने नहीं होती "जाके पैर न फटी बिवाई वह कहा जाने पीर पराई–" राजाओंका राजनीति जाननाही भूषणहै–और राजाका काम चतुरमंत्रियोंसेही ठीक चलताहै । दुष्टोंको दण्ड देना राजाका धर्महै–अपने हितमें यदि प्रजाकी हानि हो तो वह न करना चाहिये । प्रजाके शत्रुओंका संहार और दीनोंकी रक्षा करनी उचितहै। ओछोंकी संगतिसे अपनी प्रतिष्ठा घटतीहै यह सचहै कि, बडे आदमी बुराकामभी करबैठें तो एकाएकी लोग बुरा नहीं कहसकते । परंतु बुरे कामका फल अवश्य बुरा होताहै–भाग्य वश कोई अपयश लगभी जाय तो श्रमकर उसको मिटाना चाहिये अपनेसे प्रबलशत्रुको छलसे, बराबरवालेको बलसे, और निर्बलको दयासे मारना चाहिये–चाहे अपना बांधवभी हो और अनुचित कार्य करै तो उसेभी बिना दण्ड दिये न छोडना ।यथाशक्ति दूसरेका आसरतू न होना चाहिये याचना करनेसे मानहानि होतीहै अपना अहसान दूसरेपर रहै सो ठीक परंतु दूसरेका अपने ऊपर न रहै । योग्य मान रखना उचितहै परंतु अभिमान नहीं । मंत्रियोंको समझ बूझकर अधिकार देना चाहिये इसमें धोका होजानेसे बहुधा बडी हानि होतीहैं । सुन सबकी लेना और करना वही जो योग्य हो । जलमें बसके मगरसे वैर नहीं चलता । और प्रजासे विमुख राजा राज्य नहीं करसकता । जो सुयोगकार्य करनेवाले अधिकारीहैं सदा उनके दिलको बढाते रहना चाहिये । सज्जनलोग कभी स्वयम् याचना नहीं करते । बुद्धिवान् कर्मचारियोंके दुःखित रहनेसे राज्यका प्रबंध ठीक नहीं रहता ! और खेदिल होकर बहुधा बडी हानि पहुँचा देतेहैं । खुशामदियोंकी बातोंमें न आकर भलेबुरे और सच झूँठको पहिचानना बडा कठिनहै । अपने समान राजाओंसे सदा मित्रताका सम्बंध रखना चाहिये । आपसकी फूटमें शत्रुका दावँ लगजाताहै । राजा यदि न्यायपूर्वक राज्य करै तो उसकेलिये यह बडी घोर तपस्याहै क्योंकि सहस्रोंका भला उसके हाथसे होताहै । फिरभी अपनी आत्माका कल्याण करनेकेलिये सब कार्यसे निवृत्त हो कोई समय धर्मका ध्यानभी रखना चाहिये । परंतु इसमेंभी ऐसा लीन न होजाय कि राज्यकी भी जो

उसके सुरक्षितहै सुधि न रहै। बुरे आचरणसे आपभी बचना और औरोंको भी बचानां राजाका धर्महै। एक छोटेसे घरका प्रबंध गृहस्थोंको कठिन होजाताहै तिसपर सहस्रों का मन रखना और उदरपोषणका प्रबंध करना कैसा भारी कामहै? इसको वेही कर सकतेहैं जिन्होंने दैवी शक्ति पाकर राजवंशमें जन्म लिया। क्रोध ऐसा होना चाहिये जैसा आटेमें नोन। थोडाभी भला नहीं और बहुतभी अच्छा नहीं। इसीप्रकार अति दया और निर्बलताभी नीकी नहीं होती।

बिदू०—

दोहा।

"प्रजा वर्गहू दुख लहैं, निरबल नृपके संग।
मर्दन चुम्बन तीय सँग, ज्यों कुच कपोल सु अंग॥".

एक सर्पसे साधूजीने कहा कि तू निरअपराधी जीवोंको काटके उनके प्राण लेताहै यह तेरेलिये अच्छा नहीं। सर्पने साधुजीकी बात मान ब्रत किया कि अबसे किसीको न काटूँगा। जब अन्य लोगों और जीव जंतुओंको उसकी ऐसी प्रकृती मालूम होगई तो ग्रामके बच्चे बिचारे सर्पका शिर पत्थरोंसे फोडनेलगे और कीडे उसके शरीरको खाने लगे अकस्मात् एक दिन वही साधूजी फिर उसी मार्गसे निकले तब सर्पने निवेदन किया कि, महाराज! आपके उपदेशका यह फल मैं भोगरहाहूं साधूजीने उत्तर दिया कि भाई मैंने काटनेका निषेध किया था न कि फुंकारमारनेकाभी।

सू०—हां! ऐसाही होना चाहिये। राजाका ऐसा बर्ताव होवे कि न कोई दुष्ट, निर्दई, अन्याई, अथवा पक्षपाती कहै। और सर्व भयभीत भी रहैं। विद्यातो सर्व कार्योंमेंही उत्तम सहायकहै परंतु विद्याहीन नृपके मंत्री चतुर हों तो राज्यकी हानि नहीं होती परंतु वहां राजा हंसोंमें कउआ जानपडताहै। मंत्री कुबुद्धि होनेसे एक क्षणभी राज्यकी कुशल नहीं रहसकती। सुबुद्धि मंत्री राजा और राज्य दोनोंको सुधार सकताहै मानिककी शोभा कंचनमें ही होतीहै।

दोहा—"राजा तजै न चाल कुल, नीच तुरत इतराय।
ज्यों समुद्र इकरस रहै, नदी तोरि तट जाँय॥
राजरूप सरमें उठै, मदकी कठिन तरंग।
नीति नाव चढि पारहै, मंत्री केवट संग॥"

देशकालके अनुसार सदा वर्तना चाहिये। यदि चतुर मंत्री कोई ऐसी बातभी कहै जिससे एकाएकी रोस आजाना सम्भव हो तो भी क्रोध न करके प्रथम उसके तात्पर्यको विचारलेना चाहिये। मनुष्यमें सबही गुण नहीं होते परंतु गुण औगुण को तोलनेसे जो विशेष हो उसको वैसाही समझना चाहिये। गुणोंकी प्रसंशा करनेवाले तो बडे आदमियोंको बहुत मिलजातेहैं। परंतु दोषभी बताकर यथार्थ कहनेवाले बिरलही होतेहैं।

राजाकेलिये ऐसे मनुष्य परम आवश्यकीयहैं । जो समय जिसकार्यके लिये नियतहै उसे हाथसे न देना चाहिये ।

"गया वख्त फिर हाथ आता नहीं । सदा दौरदौरा दिखाता नहीं ॥"

यही युवावस्थातो भोगविलास और आनन्द मनानेकी और इसीमें राज्यकार्यका ऐसाभार–परंतु प्रत्येक कार्यके लिये समय नियत करदेनेसे सब सीधे रास्तेपर ठीक चला जाताहै–बेटा ! महाम्पुरुषोंसे प्रिय बोलो इसमें तुम्हारा मान नहीं घटता और उनका सन्मान होजाताहै । और कर्मचारीभी प्रिय बोलनेसे अच्छा काम करते हैं ।

दोहा–"नृपकी उन्नतिते सदा, परजा उन्नति होय ।
कमल बढे सँग नीरके, जानत यह सब कोय ॥"

ठोकर मारनेस रजभी ऊपरको चढतीहै–इसलिये छोटे बैरीकोभी न छेडना चाहिये । विद्वान् सुख दुःखको सदा एकसा मानतेहैं और समुद्र सब ऋतुमें एकसा रहताहै । हंसको मोती समुद्रमेंही मिलसकतेहैं । जो प्रजा सुरक्षितहै, उसे कोई सता नहीं सकता और वह नृपकीभी रक्षा करतीहै–यदि अंतःकरणमें कोई चिन्ताभी लगी हो तो उसे प्रगट न होने देनी चाहिये । ऐसा होजानेसे बहुधा रोब बिगडताहै।छोटोंकी भी सुधि न भूलो कभी २ उनसेभी बडे काम निकलतेहैं । जबतक एक प्रबंध दृढ न होजावै दूसरा मत करो और दूसरेको दृढ कियेबिना पहिलेको मत तोडो । दूधके साथ जबतक जल रहै दूधका नुकसान नहीं होता ।कच्चारंग धूपसे उडजाताहै, अंतरंग शुद्ध होना चाहिये, बाहिरी शोभा स्थिर नहीं रहती । प्रजासे कर लेकर उसी द्रव्यसे राजा कहलाताहै, उसे नष्ट न करके मेघमालाके समान प्रजापरही बरसाना चाहिये । घोडे चढनेवाला यदि कभी गिरभी जाय तो उसकी हँसी नहीं होती । कर्म अपना फल भला बुरा देताहीहै, वह दिल खुश करनेकी परवा नहीं करता । बहुधा अज्ञानी राजा राज्यको यह समझतेहैं कि, हमको हमारे आनन्दके हेतुही प्राप्त हुआहै और फिर व्यसनोंमें फँस राजकाजकी सुधि बिसारदेते हैं और स्वयम् व्यभिचारमें अपना आत्मा और देह दोनों का नाश तो वे आप करतेहैं और मतलबी कर्मचारी अवसर पा प्रजाको दुःख देतेहैं, यह बडी भूलहै । मैं पहिलेभी कहचुकाहूं और अब फिर कहताहूं कि, राज्यको अपने आनंदके हेतु पायाहुवा न समझना चाहिये, वरन् परोपकार करनेका सुअवसर प्राप्त भय जानो ! व्यभिचार बडी बुरी प्रकृतिहै, अपने आनन्दके हेतु अपनी प्रियपत्नीको क्लेशमें डालना क्या बुद्धिमानीहै ? "अति सर्वत्र वर्जयेत्"–निष्कार्यभी न रहना चाहिये क्योंकि निष्कार्य रहने व अधिक कार्य करने दोनोंहीसे प्रत्येक अंग व यंत्र भ्रष्ट होजातेहैं । चलती हुई गाडी और यंत्र ठीक रहतेहैं बंदके पुरजोंपर मोरचा लगजाताहै और अधिक चलनेसे चूल ढीली होजातीहै । और पेच घिस जातेहैं।शीघ्रगामी ठोकर खाताहै और कच्चा अचार छूनेसे बिगड जाताहै । स्वदाराव्रत पतिको और पातिव्रत स्त्रीको रखना चाहिये ।

चौपाई।

"धिक वह सेवक विपद पराहीं। धिक वह पती सुदार दुराहीं॥"

क्योंकि परदेशमें विद्या और घरमें स्त्री सच्चे मित्र होतेहैं। स्त्रीं प्रीतिसे और साधु नम्रतासे वश होतेहैं। जो राजा अपने तन मनकोही बशमें न करसके वह देशको कैसे स्वाधीन रख सकताहै? एकही घरका मालिक किसीका बाप किसीका बेटा किसीका पति और किसीका भ्राता होताहै, सबके साथ उचित बरतावसे रहना चाहिये।

श्लोक।

"स्वभावेन हरेन्मित्रं सद्भावेन च बान्धवान्।
स्त्रीभृत्यान्प्रेमदानाभ्यां दाक्षिण्येनेतरं जनम्॥"

अर्थात् स्वभावसे मित्रको, सद्भावसे बंधुजनोंको, प्रेमदानसे स्त्री और भृत्योंको, और चतुराईसे दूसरे जनोंको वशीभूत करना चाहिये। यही वशीकरण मंत्र है। प्रत्येक वस्तुका स्वभाव जुदा २ है, जल विना आधार नहीं रहता परंतु पवन रहता है ऐसेही प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृति जुदी २ होतीहै। जैसेके साथ तैसा बर्ताव करना उचित है। स्त्रीकी प्रीतिमें बहुधा उचित अनुचितका विवेक नहीं रहता उसके प्रसन्नतार्थ प्राणी अधमसे अधम कार्य करनेकोभी तत्पर होजाताहै। स्त्रीका प्रसन्न रखना आवश्यकीय है, क्योंकि इसके बिना संसारका सब सुख निष्फल होताहै परंतु उचित अनुचितका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। बेटा! तुम यहां इस देशमें नयेहो, परंतु विद्वान्को कहीं विदेश नहीं होता इस संसारमें दोही मनुष्य धन्य हैं, एक वे जिन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया, दूसरे वे जिनके पास सुन्दर कामिनी पतिव्रता है, तुमभी अपनेको धन्य मानो और आनन्द पूर्वक रहो।

चंद्र—महाराज! कौन कहताहै कि, दुःखका अंत नहीं होता। हम जिनको स्वप्नमेंभी सुखकी आशा नहीं रहीथी आज दैवकी कृपासे सर्वानंद देखतेहैं। जिस समय दूधमें जल मिला तो दूधने अपना गुण और रूप जलरूपी मित्रको देदिया, फिर दूधमें ताप देख जलने पहिले अपना शरीर होम दिया, फिर दूधनेभी मित्रको इस आपत्तिमें देख अग्निमें गिरना चाहा और जलके छींटे या अपने मित्रको आया जान बैठगया। महाराज! ऐसी ही हमारी आपकी मैत्री हो।

सू०—तथास्तु मित्रवर!

चंद्र०—आप धन्य और आपकी सन्तान धन्य है।

सू०—और आपकी भी कि जिनके प्रतापसे आज यह सर्वानंद है।

चंद्र०—सिंहिनी एक पुत्रसेही निर्भय रहतीहै और गधीभी दश पुत्र होनेपरभी बोझा ही ढोतीहै॥ ऐसेही स्थानमें सतयुग कलियुगका भय करके रहताहै। सुख-दुःख

संसारकी गति है परंतु जिस दुःखका परिणाम अच्छा हो वहभी सुखही है। (स्त्रियोंकी ओर) हे सुता बालिकाओ ! यहाँ आओ और अपने स्वामीको प्रणाम करो।

रत्न०–और मनो०–(आगे बढके) पिताजी ! ये हमारे।

कवित्त।

नैननके तारे हिय गृहके उजारे मेरे पर्म दिलदारे पिय प्राणहूते प्यारे हैं।
जाहिके निहारे सुख पावत अपारे हिय चहत ना छिन होन नयननते न्यारे हैं॥
जाहिसँग हारे तन बच मन सारे अजी जाहिते हमारे दिललहत करारे हैं।

(सरोजके पैर छूतीहुई)

चर्न बलि हारे तेहि पग शीश धारे रहौ जीवन हमारे सदा जाहिके अधारेहैं॥

सरो०–

सोरठा।

प्यारी ! एकहि बात, राखो हियबिच धारिके।
तजौं न तुमरो साथ, प्राणहु परि हरि जाँय तो॥

रत्न०–मेरी एक इच्छा और है (ऊंचे स्वरसे) शृंगारवती यहाँ आ ! (शृंगारवतीका प्रवेश) यहभी अपने स्वामीकी अनुरागिनीहो।

शृं०–मैं आपसे पहिले सुखभोग करना नहीं चाहतीथी इसी लिये वह स्वांग बनाया था। अब जो आपकी इच्छा होगी करूंगी।

सरो०–भाई बीरसेन ! तुमने सब बात जानली अब चित्तसे भय दूर करो और अपनी अर्धांगीके साथ आनन्दसे रहो (शृंगारवतीका हाथ पकडा दिया.)

सब–(नृत्य करतेहुए)– रागसिंदूरा।

सबमिल करहु आज अनंद बृंद। अहो ! धन्य भाग धन २ सुहाग॥
गावो आनँद राग प्यार मनन लाग। गये सकल दुखद्वंद फंद॥
हम दीन दास पडे तुमरे पास। मिटे सकल त्रास भई पूरण आस॥
ब्रजभूषण ब्रजराज चन्द। सबमिल करहु आज अनंद बृंद॥

(धीरे धीरे जवनिका गिरतीहै)

इति रत्नसरोजनाटक समाप्त.

॥ इति शुभम् ॥

पुस्तकमिलनेका ठिकाना–

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) प्रेस–बंबई.